पंच-यज्ञ-प्रकाश

—बुद्धदेव विद्यालङ्कार

॥ ओ३म् ॥

पंच यज्ञ-प्रकाश

लेखक

पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार

प्रकाशक

पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार

द्वितीय संस्करण १००० | सम्वत २००४ दयानन्दाब्द १२३ | मूल्य २)
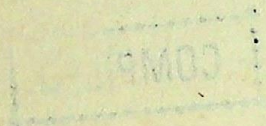
❀ ओ३म् ❀

पंचयज्ञ-प्रकाश

—❀❀❀—

आर्यों के दैनिक कर्त्तव्यों में पांच यज्ञों अर्थात् ब्रह्म-यज्ञ, देव यज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ, अतिथि यज्ञ, पितृ यज्ञ, इनकी जो महिमा कही गई है वह किसी से छिपी नहीं है।

ग्रन्थ प्रयोजन इन पांच या सात मिनट में या अधिक से अधिक एक घण्टे में समाप्त हो जाने वाले यज्ञों को महायज्ञ का नाम दिया गया है। पौर्णमास से लेकर अश्वमेध पर्य्यन्त किसी भी यज्ञ को यह नाम नहीं दिया गया किन्तु इन्हें महायज्ञ कहा गया है। मनु महाराज लिखते हैं। पञ्चैतांस्तु महायज्ञान् यथा शक्ति न हापयेत् (मनु ४,२१) इससे स्पष्ट है कि इन यज्ञों की बड़ी महिमा है, ऋषि दयानन्द ने भी संस्कार विधि तथा सत्यार्थ प्रकाश में इनकी महिमा गाई है और पञ्च महायज्ञ विधि नामक एक स्वतन्त्र पुस्तक इस विषय में लिखी है, परन्तु जबतक हम इन यज्ञों के वास्तविक मर्म्म को न जान लें तबतक कोरे मन्त्र पाठ में और मूर्ति पूजा में विशेष भेद नहीं दीखता। इसलिये आवश्यक है कि, इनका भाव भली प्रकार समझा दिया जाय, इसी लक्ष्य को सामने रखकर हमने यह पञ्च यज्ञ प्रकाश नामक लघुग्रन्थ ३ भागों में लिखा है। पहिले इसके दो भाग आर्य

प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से ब्रह्मयज्ञ और देव-यज्ञ के नाम से छपे थे किन्तु अब उनमें कुछ आवश्यक परिवर्तन करके इस ग्रन्थ को यह रूप दिया गया है। ग्रन्थ लेखक की पहिले भी ऐसा करने की इच्छा थी किन्तु समयाभाव से ऐसा न हो सका अब समय मिलने पर पञ्च यज्ञ प्रकाश पाठकों के सामने उपस्थित है, विश्वास है कि इसका भी पूर्ववत् आदर होगा।

काव्य के क्षेत्र में पुनरुक्ति दोष माना जाता है किन्तु कर्म्म-काण्ड में वही गुण है। एक ही मन्त्र को सहस्र बार जपने से उसकी भावना हृदय में गहरी होती जाती है और लक्षवार जपने से और भी बद्धमूल हो जाती है। इसलिये कर्म्म-काण्ड में पुनरुक्ति दोष नहीं, अलङ्कार है। अब प्रश्न होता है कि वह कौनसी भावना है जिसकी कर्म्म-काण्ड में पुनरावृत्ति की गई है, सो वह है त्याग की भावना। वर्त्तमान युग में जो समस्या सारे संसार को व्याकुल कर रही है वह यही बटवारे की समस्या है। अन्न पैदा होता है और इतना पैदा होता है कि इससे दुगनी जन-संख्या भी खाकर तृप्त हो जाए परन्तु लोग फिर भी भूखे हैं। वस्त्र बनते हैं और इतनी पर्य्याप्त मात्रा में बनते हैं कि इससे दुगने बड़े मानव समाज के भी शीतोष्ण का निवारण कर सकें किन्तु लाखों नर नारी फिर भी नंगे बिल-बिला रहे हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कहीं न कहीं इन आलम्बन पदार्थों का सञ्चय हो गया है। बस उस सञ्चय

पुनरावृत्ति

का अपचय करके सबके साथ परिचय कराना ही सब पुरुषों का निश्चय होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के इस सञ्चय के निवारण के दो उपाय हैं। एक तो यह कि जहां जहां सञ्चय हुआ है कि वहां से छीनकर कोई अर्थार्थियों को पहुँचादे दूसरा यह कि सञ्चय करने वाले दान की महिमा को समझ कर आन्तरिक सद्भावना के बल से स्वयं उन सञ्चित द्रव्यों का वितरण करदें। बस इस वितरण की भावना को दृढ़ करना ही यज्ञमात्र का उद्देश्य है। इसी एक भावना की समस्त यज्ञों में नाना प्रकार से पुनरावृत्ति की गई है। और यदि यह पुनरावृत्ति लाख बार नहीं करोड़ बार फिर फिर की जाय तो भी थोड़ा है। जबतक वे लोग जो या तो कर्म्म करते नहीं और यदि करते भी हैं तो उसके फल को इस प्रकार दबाकर रखते हैं कि वे स्वयं ही उसका उपयोग करें दूसरा कोई न करे कर्म्म करना और फल को बांट कर खाना नहीं सीखेंगे तब तक यह आवृत्ति चलती ही जायगी। इसलिए यही एक भावना है जिसकी इन यज्ञों में बारम्बार पुनरावृत्ति की गई है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह कर्म करना और फल की इच्छा न करने का गुण कहां से सीखा जाय सो इसका उत्तर है कि जिनमें यह गुण हैं उनकी सङ्गति से। सो इस प्रकार के निष्काम-कार्य कर्म्म करने वालों में सबसे बड़ा स्थान परब्रह्म का है। उसे अन्न, जल, स्तुति, पूजा किसी भी फल की कामना नहीं और कर्म्म में वह

ब्रह्मयज्ञ

निरन्तर प्रवृत्त रहता है। कभी विश्राम नहीं लेता सो इस त्याग की भावना को, इस निष्काम कर्म की भावना को सीखने का सब से अच्छा उपाय उसकी उपासना अर्थात् उसके पास बैठना है।

इस भावना को सीखने का दूसरा उपाय ब्रह्म अर्थात् वेद का और उसके अनुकूल अन्य ग्रन्थों का जिनमें ऋषियों ने वेद के दिये विद्या बीज का विकास किया हो स्वाध्याय करना है इसी लिये शतपथ ब्राह्मण में कहा है स्वाध्याये वै ब्रह्म यज्ञः। शत ११। ५। ६। २॥

इस स्वाध्याय की महिमा शतपथ में अनेक रूप से कही गई है जिसमें से थोड़ा सा उद्धरण यहाँ दिया जाता है :—

अथातः स्वाध्याय प्रशंसा। प्रिये स्वाध्याय प्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहरहरर्थान्त्साधयते सुखं स्वपिति परम चिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रिय संयमश्चैकारामता च प्रज्ञावृद्धिर्यशोलोकपक्तिः। श. ११।५।७।१॥

यदि ह वा अप्यभ्यक्तः। अलंकृतः सुहितः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीतऽ आहैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते य एवं विद्वान्त्स्वाध्यायमधीते [मनुस्मृतौ २। १६७:—आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः। यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥] श. ११।५।७।४॥

यन्ति वा आपः एत्यादित्यः एति चन्द्रमा यन्ति नक्षत्राणि यथा ह वा एता देवता नेयुर्न कुर्युः एवं हैव तदह-

ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते तस्मात्स्वाध्यायो ऽध्येतव्यस्तस्मादप्यृचं वा यजुर्वा साम वा गाथाँ वा कुंब्यां वाभिव्याहरेद् व्रतस्याव्यवच्छेदाय । श. ११। ५।७।१०॥

अब स्वाध्याय की प्रशंसा सुनियेः—

स्वाध्याय और प्रवचन दो अत्यन्त प्रिय कर्म हैं। जो इनको करता है, मन एकाग्र रहता है, कभी पराधीन नहीं होता, उसके कार्य दिनों दिन सिद्ध होते जाते हैं, वह सदा सुख की नींद सोता है। उससे बढ़कर अपने रोगों का चिकित्सक कोई नहीं होता। स्वाध्याय के इतने फल हैं:—इन्द्रिय संयम, चित्त की एकाग्रता, बुद्धि की वृद्धि, यश का लाभ, लोक का परिपाक अर्थात् जो स्वाध्यायशील के संसर्ग में आते हैं वे परिपक हो जाते हैं। यदि कोई मनुष्य सुगन्धित तेल लगाकर शृङ्गार करके, पेट भर भोजन किये हुए नर्म शय्या पर लेटा हुआ भी स्वाध्याय में लगा रहता है तो मानो उसने नख से शिखा तक तपस्या की।

नदियें नित्य बहती हैं, सूर्य नित्य चलता है, चन्द्रमा नित्य यात्रा करता है, नक्षत्र सदा अपनी परिक्रमाओं में घूम रहे हैं। सो जिस दिन कोई ब्राह्मण स्वाध्याय नहीं करता उस दिन वह ऐसा ही काम करता है जैसे जल, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र यह सब देव अपना कार्य करना छोड़ दें, इसलिए स्वाध्याय नित्य करना चाहिये। कुछ नहीं तो एक ऋचा, एक युजुर्वाक्य, एक सामवचन,

एक गाथा या एक लोकोक्ति का ही उच्चारण करले जिससे कि स्वाध्याय का व्रत टूटने न पावे।

यह स्वाध्याय वह है जो स्वयं किया जाता है, विद्वान्, पुरोहित तथा अतिथि से जो श्रवण किया जाता है उसका वर्णन अतिथि यज्ञ में करेंगे।

इस ब्रह्मयज्ञ के पश्चात् देवयज्ञ है, देवयज्ञ का भाव है देवों का परस्पर मिलकर कार्य करना, भगवान् पर ब्रह्म में यह सब देव दिव्य गुणों के रूप में कार्य्य कर रहे हैं, किन्तु एक ही पर ब्रह्म में जो परस्पर विरोधी गुण कार्य्य कर रहे हैं उनका सीखना तो दूर किन्तु समझना भी कठिन है, वह अग्नि भी है, सोम भी है, अश्वि भी है विष्णु भी है, इसलिये उस भगवान् ने वेद द्वारा हमें इस विद्या का उपदेश अपनी स्थूल सृष्टि द्वारा दिया है, यहाँ अग्नि और सोम आग और पानी के रूप में साफ पृथक् पृथक् अनुभव किये जा सकते हैं जिस प्रकार उसकी सृष्टि में आग और पानी के समान परस्पर विरोधी गुण रखने वाले जड़ देव उसकी आज्ञा से प्रेरित होकर बड़े बड़े काम कर रहे हैं। इसी प्रकार मनुष्यों को भी उचित है कि इन जड़ देवों से काम लेना सीखें और इनके सदृश परस्पर विरोधी गुण रखने वाले मनुष्यों के परस्पर सहयोग से सृष्टि के कार्य्यों को यथावत् चलाना सीखें, इन जड़ पदार्थों को देव इसलिये कहते हैं क्योंकि यह उत्तम गुणों द्वारा हमें सुख "देते हैं" और "निष्काम सेवा" और "आज्ञा पालन" का निरन्तर उपदेश 'देते हैं" सूर्य्य हमें

गर्मी, प्रकाश, प्राण, शक्ति और निष्काम सेवा का उपदेश देता है। चन्द्रमा नेत्रों को प्रसन्न करता है उल्लास देता है और निष्काम सेवा का उपदेश देता है। वायु निरन्तर गतिशील है और समस्त बनस्पति जगत् में उत्पादक द्रव्य को एक फूल से दूसरे फूल तक पहुँचाता है तथा प्राण शक्ति देता है साथ ही साथ निष्काम सेवा और आज्ञा पालन का उपदेश देता है, यही कारण है कि यह सब अपने आचरण द्वारा मूक उपदेश देने वाले जड़ पदार्थ जड़ देवता कहलाते हैं। भगवान् हमें उपदेश देने के लिये वेद में इन्हें ही दृष्टान्त रूप से उपस्थित करते हैं।

निष्काम सेवा परस्पर सहयोग और आज्ञा पालन यह तो इनके सामान्य गुण हैं किन्तु इनसे जो विशेष गुण सीखने चाहियें उनका वर्णन देव यज्ञ के प्रसङ्ग में करेंगे।

ब्रह्म यज्ञ के पश्चात् देवयज्ञ है उसके पश्चात् भोजन से पूर्व वैश्वदेव बलि है। कारण यह कि इन दो यज्ञों के पश्चात् संसार में अपने अपने कार्य्य में लगने के पीछे मनुष्य के हृदय में अभिमान उत्पन्न होने का भय होता है सो उसी समय वैश्वदेव यज्ञ किया जाता है।

अब तक जितने यज्ञ अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ और वैश्वदेव यज्ञ वर्णन हुए उनमें मनुष्य स्वयं मन्त्रों के अर्थचिन्तन सहित उच्चारण से अपना कल्याण करता है किन्तु मनुष्य के लिये इतना ही तो पर्य्याप्त नहीं वह बहुत सी बातों को स्वयं नहीं समझ सकता इसलिये उसे ब्रह्मचर्य काल में गुरु सेवा करनी

पड़ती है। परन्तु वह गुरु सेवा ब्रह्मचर्य काल में ही समाप्त न हो जावे इसलिये अतिथि यज्ञ और पितृ यज्ञ दो यज्ञ और रखे गये हैं। अतिथि यज्ञ में मनुष्य घर बुला कर सबकी सेवा करे किन्तु जिस दिन कोई विद्वान् घर में आजाय उस दिन तो अहो भाग्य समझे। घर में जिस दिन अचानक अतिथि आजाय उसका ही नाम अतिथि यज्ञ नहीं किन्तु गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह स्वयं ढूंढकर भी अतिथियों को घर में लावे और उनसे यथा सम्भव उपदेश ले।

फिर केवल विद्वान् ही हमारा कल्याण नहीं कर सकते किंतु संसार के अनुभवी वृद्ध पुरुषों का भी सत्सङ्ग आवश्यक है एक तो इस यज्ञ द्वारा जो अब क्षीण शक्ति होगये हैं उनके प्रति कृतज्ञता का प्रकाश होता है दूसरे चाहे वे बिलकुल निरक्षर भी हो तो भी क्योंकि उन्होंने संसार देखा है इसलिये उनसे कुछ न कुछ ज्ञान लाभ अवश्य होता है इसलिये उनकी पूजा सर्वथा उचित है, फिर मानलो कि उनमें अब हमें कुछ भी देने की शक्ति नहीं रही तो भी वे इतने दिन हमें जो देते रहे हैं वह क्या कुछ कम है इसलिये और नहीं तो शुद्ध-कृतज्ञता से उनकी पूजा करनी चाहिये यह इस यज्ञ की अन्य यज्ञों से विशेषता है इस प्रकार सबका सार यह हुआ।

ब्रह्मयज्ञ—प्रभु भक्ति, स्वाध्याय, आत्मिक शक्ति तथा ज्ञान-वृद्धि के लिये।

देव यज्ञ—परस्पर सहयोग का तत्त्व सीखने के लिये।

वैश्वदेवयज्ञ—अभिमान दूर करने के लिये।

अतिथि यज्ञ—उपदेश कर्त्ता से साक्षात् ज्ञान प्राप्ति तथा सेवा के लिये।

पितृ-यज्ञ—कृतज्ञता की भावना दृढ़ करने तथा ज्ञान प्राप्ति के लिये।

इस प्रकार संक्षेप से पांचों यज्ञों का परस्पर सम्बन्ध दिखा कर सब से मुख्य ब्रह्मयज्ञ का वर्णन आरम्भ करते हैं।

प्रातःकाल ब्राह्म महूर्त में उठकर मलत्याग द्वारा पेट को,

पद्धति

व्यायाम द्वारा रोम कूपों को, दन्त धावन द्वारा मुख को तथा स्नान द्वारा त्वचा को शुद्ध करके स्वच्छ वायु में और हो सके तो नदी तीर पर संध्या करने बैठे।

सब से प्रथम तीन प्राणायाम करके मन को संध्या के अनुकूल बनावे फिर गायत्री पाठ पूर्वक शिखा बन्धन करे। शिखा मनुष्यों के सद्विचारों, सद्भावनाओं की प्रतिनिधि है। वह भावनायें बिखरी होकर भद्दी और शक्ति-हीन होती हैं किन्तु बंधकर सुन्दर और शान्ति सम्पन्न हो जाती हैं। जिस प्रकार शिखा के बाल बिखरे हुए भद्दे और शक्ति-हीन होते हैं किन्तु बंधे हुए सुन्दर तथा शान्ति सम्पन्न होते हैं। इसी भाव के स्मरण दिलाने के लिये शिखा बन्धन है। किन्तु यदि किसी कारण शिखा बन्धन न हो सके अथवा किसी के रोगादि के कारण शिखा ही न हो तो वह संध्या नहीं कर सकता। ऐसा समझना मूर्खता है।

शिखा बन्धन के पश्चात् 'शन्नो देवी रभिष्टये' इस मन्त्र से तीन बार आचमन करे।

आचमन का परिमाण यह है "उतने जल को हथेली में ले के उस के मूल और मध्य देश में ओष्ठ लगा के करे कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय देश तक पहुँचे । न उस से अधिक न न्यून" (सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास)

फिर ओं वाक् वाक् इत्यादि मंत्रों से अङ्ग स्पर्श करे। कई लोग यहां पूछते हैं कि यह वाक्य किस वेद के मन्त्र के आधार पर है उनके लिये अथर्व वेद के यह मन्त्र दिये जाते हैं।

ओं वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणादन्ता बहुबाह्वोर्बलम् ॥ १ ॥
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः ।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मा निभृष्टः ॥ २ ॥
तनू स्तन्वा मे सहेदतः सर्व्व मायुरशीय ॥

अथर्व १६ का० ६० । ६१ सूत्र ।

इन मन्त्रों को यहाँ ऊह द्वारा स्पर्शोपयोगी बना दिया गया है।

उस के पश्चात् वाम हाथ में जल लेकर दक्षिण हस्त की अङ्गुलियों द्वारा शरीर के मंत्रों में कहे अङ्गों पर ओं भूः पुनातु शिरसि आदि मार्जन मन्त्रों से छींटा दें।

यद्यपि एक मन्त्र न्यून या अधिक पढ़ लेने से कोई पाप नहीं किन्तु यह सब विधि इसीलिये निश्चित की जाती है कि जिससे यदि बहुत से लोग इकट्ठे होकर संध्या करें तो एक समान कर लेने से व्यवस्था जन्य सुन्दरता आती है और भिन्न भिन्न प्रकार करने से अव्यवस्था जन्य भद्दापन आता है। संध्या अग्नि होत्र आदि में जो बाह्य क्रियायें की जाती हैं उनका बहुत बड़ा मूल्य इस सदृशता (Uniformity) में ही हैं अन्यथा यह बाह्य क्रियाएं गौण हैं।

हमारा यह तात्पर्य नहीं कि यह क्रियाएँ करनी ही नहीं चाहिये किन्तु हमारा अभिप्राय केवल इतना है कि इनके पीछे पञ्च यज्ञोंको ही न छोड़ बैठना चाहिये। यदि कभी किसी विशेष कारण से इनमें से कोई बाह्य क्रिया न हो सके तो क्षति नहीं।

उदाहरण के लिये संध्या में मार्जन क्रिया के विषय में सत्यार्थ प्रकाश में ऋषि लिखते हैं।

पश्चात् मार्जन अर्थात् मध्यमा और अनामिका अंगुलि के अग्र भाग से नेत्रादि अङ्गों पर जल छिड़के उससे आलस्य दूर होता है जो आलस्य और जल प्राप्त न हो तो न करे।

साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि यहाँ जो आलस्य अथवा प्रमाद वश यज्ञ का कोई अङ्ग छोड़ा जाय तो उसका समर्थन नहीं, किन्तु हमारा इन पंक्तियों के लिखने का केवल इतना भाव है कि यज्ञों में मुख्यता मन्त्रों की और उनमें भी अर्थ

चिन्तन की है, अर्थ की अपेक्षा शब्द गौण है और शब्द की अपेक्षा बाह्य विधि वैसे सभी आवश्यक हैं और जितना सबको मिलाकर कार्य करें उतना ही यज्ञ सर्वाङ्ग सम्पन्न होगा। यहाँ तक ब्रह्म यज्ञ की पद्धति और उसके प्रसङ्ग में सामान्य यज्ञ पद्धति के विषय में कह कर ब्रह्म यज्ञ की उपक्रमणिका आरम्भ करते हैं।

अथोपक्रमणिका

मनुष्यों के कल्याण के लिए ऋषियों ने जो पांच यज्ञ बताये हैं उनमें से एक संध्या है। सन्ध्या की ऋषियों ने बड़ी महिमा कही है। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि जो सायं-प्रातः—दोनों समय—सन्ध्या नहीं करता वह शूद्रवत् है। जब से ऋषि दयानन्द ने इन पांच यज्ञों का पुनरुद्धार किया तब से अनेक भक्त लोग इन पांच यज्ञों के करने का यत्न करने लगे हैं। उनके मार्ग में जो बाधाएं आती हैं उन्हें दूर करने के लिये ही यह पुस्तक लिखी जा रही है।

सन्ध्या करने वालों की सब से बड़ी कठिनाई यही होती है कि वे धर्म्म में श्रद्धावश आंख मूँद कर ध्यान

मन न लगना

लगाने तो बैठ जाते हैं परन्तु ध्यान तो न जाने किन किन विकल्पों में उलझा फिरता है। सन्ध्या शब्द का अर्थ ही है 'अच्छी प्रकार एकाग्र हो कर ध्यान।' किन्तु जब वही सिद्ध नहीं होता तो सन्ध्या एक निरर्थक रीति निर्वाह-मात्र रह जाती है।

इसका करण

इसका कारण यह है कि सन्ध्या की पुस्तक यह समझ कर लिखी गई है कि सन्ध्या करने से पहिले जिस साधना की आवश्यकता है वह साधक पहिले कर आया है। किन्तु वस्तुतः जो लोग सन्ध्याकी पुस्तक उठाकर पढ़ते हैं और सन्ध्या करने का यत्न करते हैं उनमें कदाचित् सहस्रों में एक ने वह साधना की होती है। प्राचीन कालमें वह साधना प्रत्येक बालक के जन्म से पहिले ही प्रारम्भ हो जाती थी। उस साधना के वायु-मण्डल में ही बालक बड़ा होता था। इसलिए सन्ध्या-विधि लिखने वालों ने वह विधि कहीं सन्ध्या की पुस्तक में नहीं लिखी। परन्तु वर्तमान युग में, जब अपनी प्राचीन सबही मर्यादा अस्तव्यस्त हो चुकी है, हमें विधि के भी लिखने की आवश्यकता है। इसलिये उस साधना को शास्त्र से संग्रह करके लिखते हैं।

शिव सङ्कल्प साधना

उस साधना का नाम शिव-संकल्प की साधना है। प्रश्न उठ सकता है कि सन्ध्या से पहिले इस साधना की आवश्यकता है यह तुम्हारी कपोल-कल्पना है अथवा इस में कोई शास्त्र-प्रमाण भी है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हम मनु महाराज का यह प्रमाण उद्धृत करते हैं:—

संकल्पमूलः कामो हि यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥ मनु० २।३

और सच पूछिये तो मनु क्यों, स्वयं वेद ही ने क्या शिव-सङ्कल्प की महिमा थोड़ी गाई है ? यजुर्वेद में ३४वें अध्याय में पूरे ६ मन्त्र शिव संकल्प की महिमा गाते हुए कहते हैं,

"येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।"

सप्त-होता यज्ञ क्या है इस की व्याख्या शतपथ में देखनी चाहिये । किन्तु हमें तो यहाँ केवल इतना दिखाना है कि मन को यज्ञोपयोगी बनाने के लिये मन को शिव-सङ्कल्प बनाना सब से बड़ा साधन बताया । इसलिये उचित है कि हम पहले तो इस शब्द का ठीक ठीक अर्थ क्या है यह जानें, फिर उसका यज्ञों से क्या सम्बन्ध है यह जानें ।

सङ्कल्प

सङ्कल्प शब्द 'सम्' पूर्वक 'क्लृप् सामर्थ्ये धातु से 'घञ्' प्रत्यय करने से बना है । इसमें सम्' उपसर्ग 'क्लृप्' धातु है और भाव-वाची 'घञ्' प्रत्यय है । 'सम्' का अर्थ है एक साथ । जैसे 'संगच्छध्वं' का अर्थ है एक साथ चलो । 'क्लृप्' का अर्थ है समर्थ अर्थात् कार्य्योपयोगी बनाना । तो सङ्कल्प का अर्थ हुआ सब मानसिक शक्तियों को एक केन्द्र में इकट्ठा करके कार्य्योपयोगी बनाना । अथवा कर्त्र्थक 'अच्' करने से इस क्रिया को करने वाला भाव भी सङ्कल्प कहला सकता है ।

प्रायः लोग, हमारे हृदय में जो अनेक क्षण-क्षण में

बदलने वाली इच्छा की धाराएं अथवा ठीक कहें तो इच्छा के कण होते हैं, उन्हें सङ्कल्प कहते हैं। वह तो वस्तुतः विकल्प हैं। सङ्कल्प नाम बिखरे कणों का नहीं किन्तु एक अविच्छिन्न धारा का है। विचार-मात्र जो हमारे हृदय में उठते हैं संकल्प नहीं कहला सकते। फिर प्रश्न उठता है सङ्कल्प किस विचार-विशेष का नाम है?

विकल्पं को संकल्प सम-झना भूल है

सङ्कल्प उस विशेष दृढ़ इच्छा का नाम है जिसके लिये किसी ने अपना सम्पूर्ण जीवन अथवा उसका एक मुख्य भाग अर्पण कर दिया हो। आज इस प्रकार के भावों का अभाव ही हमारे सन्ध्या में चित्त न लगने का कारण है। वर्त्तमान युग-का सब से बड़ा रोग यह सङ्कल्प-हीनता है। यह नहीं कि हमारे संकल्प अशिव हैं, किन्तु न हमारे संकल्प शिव हैं, न अशिव। हम लोगों के चित्त संकल्प-हीन हैं। इसीलिये ब्रह्मयज्ञादि किसी यज्ञ में भी हमारा चित्त नहीं लगता। अब हम संक्षेप से संकल्प किस प्रकार सम्पूर्ण वर्णाश्रम मर्यादा का मूल है यह दिखाते हैं।

योगदर्शन के व्यास-भाष्य में ब्रह्मचर्य्य का लक्षण इस प्रकार किया है "ब्रह्मचर्य्य गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः।" अब देखने की बात है कि यह अर्थ यहाँ किस प्रकार हुआ। न तो ब्रह्म का अर्थ उपस्थेन्द्रिय है जो कि दुर्जयतम होने के कारण

सङ्कल्प और ब्रह्मचर्य्य

सब इन्द्रियों का उपलक्षणभूत होकर यहां आया है, और न 'चर्' का अर्थ है संयम। ब्रह्मचर्य शब्द का सीधा अर्थ देखें तो ईश्वर-भक्ति अथवा ईश्वर-प्रणिधान है। 'ब्रह्म' का अर्थ है ईश्वर अथवा वेद, दूसरी ओर 'चर्' का अर्थ है विचरना। इस प्रकार ब्रह्मचर्य्य का अर्थ 'ब्रह्मणि चरणम्' अर्थात् ब्रह्म में विचरना हुआ। फिर इसका अर्थ इन्द्रिय-संयम कैसे हुआ यह एक पहेली है जिसे समझना हमारा कर्त्तव्य है। सच पूछिये तो ब्रह्मचर्य्य शब्द की यही विलक्षणता है। इन्द्रिय-संयम का सब से बड़ा साधन क्या है यह इसी शब्द में रक्खा है।

चित्तवृत्तियों की धारा का प्रवाह जल-धारा के समान है यदि कोई मनुष्य बहती हुई जलधारा को बाँध बाँध कर रोकना चाहे तो वह उसकी भूल है। बांध द्वारा जल-प्रवाह को रोकना असम्भव काम है। कुछ क्षण में जलधारा बांध के पृष्ठ तक आकर वह निकलती है। इसीलिये चतुर लोग जब किसी जल प्रवाह को रोकना चाहते हैं तो उसके बहने के लिये एक दिशा निश्चय करके उधर एक नाली खोद देते हैं। इस से प्रथम तो जल प्रवाह स्वयं ही उधर चला जाता है और अनिष्ठ दिशा में नहीं जाता और यदि जाने भी लगे तो उस समय बांध बाँधना काम देता है। इसी प्रकार मनोवृत्तियों की धारा को इन्द्रिय चर्य्या से बचाने का मुख्य साधन यह है कि उसे ब्रह्माभिमुख कर दिया जाय। यदि फिर भी मन

गड़बड़ करने लगे तो उस समय प्राणायामादि बाह्य साधन भी सहायक हो सकते हैं। इसी बातको गीता में इस प्रकार कहा है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म्मसमाधिना ॥

गीता अ. ४. २४.

अर्थात् हम अभागे लोग हैं जो इन्द्रियादि हवियों को ब्रह्म के निमित्त अर्पण न करके स्त्री, पुत्र, रूप, रसादि भोगों के अर्पण कर देते हैं। परन्तु बुद्धिमान पुरुष ब्रह्म की हवि को ब्रह्म के निमित्त अर्पण करते हैं, और इस प्रकार इस ब्रह्मकर्मसमाधि अर्थात् ब्रह्म और कर्म के समुच्चय अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं। प्रश्न उठता है कि उन्हें इस विद्या का ज्ञान कैसे होता है ? तो इसका उत्तर है—ब्रह्मणा हुतम्—अर्थात् वेद द्वारा, वेदोदित मार्ग से किया हुआ हवन ब्रह्म प्राप्ति का साधन है। यही बात "कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्" (गीता ३. १५.) इस तीसरे श्लोक में और स्पष्ट कर दी गई है। इस प्रकरण की अद्वैतवादियों ने जो दुर्दशा की है उसे देखकर रोएँ वा हंसे यह समझ नहीं आता।

उसके पश्चात् ओं भूः आदि मन्त्रोंसे प्राणायाम करे, उसके पश्चात् ऋतञ्च सत्यञ्च इत्यादि मन्त्रों से अघमर्षण अर्थात् निराशा और अभिमान इन दो पाप के सहायकों को दूर करके पाप के आक्रमण को सहन करने की शक्ति उत्पन्न करे।

इसके पश्चात् शन्नो देवी इस मन्त्र से तीन आचमन. फिर ओं दिगग्निरधिपतिः इत्यादि मन्त्रों से, सामने पीछे दायें बायें नीचे ऊपर हमारे सब ओर हमारा प्रभु है और हमें उसके न्याय पर भरोसा है यह प्रेम की भावना धारण करे, जिसे अहिंसा की भावना भी कहते हैं उसके पश्चात् उद्वयं समसस्परि इत्यादि मन्त्रों द्वारा यमों में से दूसरे यम सत्य का व्रत धारण करे।

फिर तच्चक्षुर्देवहितं इस मन्त्र से ब्रह्मचर्य व्रत धारण करे।

इसके पश्चात् गायत्री द्वारा ईश्वर प्रणिधान नामक मुख्य अङ्ग की पूर्ति करे।

उसके पश्चात् नमः शम्भवाय च इस मन्त्रसे शम् से आरम्भ की हुई संध्या का शम् से उपसंहार करे। [इस समय फिर शन्नो-देवी इस मन्त्र से आचमन करे।]

पद्धति भेद ऋषि दयानन्द ने यह पंच यज्ञ पद्धति सत्यार्थ प्रकाश संस्कार विधि तथा पञ्च महा यज्ञ विधि तीनों में दी है। किन्तु तीनों में थोड़ा थोड़ा भेद है. जातवेदः सुनवाम यह मन्त्र संस्कार विधि में दिया गया है, पञ्च महायज्ञ विधि में नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कार विधि में आचार्य ने कुछ भाग किसी को ग्रन्थान्तर से लेने के लिये कहा और निर्देश किया कि पञ्च महायज्ञ विधि से मिला ले, किन्तु लेखक के प्रमाद से ऐसा न हो सका। परन्तु इसमें करना वही चाहिए जो पञ्च महायज्ञ विधि में कहा है । इसका कारण यह है कि वह

ग्रन्थ इसी उद्देश्य से लिखा गया है और ऐसी ही धर्मार्य्य सभा की व्यवस्था है।

अब प्रश्न है कि इस ब्रह्मचर्य-रूप यज्ञ का वेद ने क्या मार्ग बताया है ? तो इसका उत्तर है शिव-संकल्प। शिव-संकल्प द्वारा ही भक्ति और उसके द्वारा ही शक्ति उत्पन्न होती है। अब प्रश्न है कि शिव-संकल्प ब्रह्मचर्य में सहायक किस प्रकार है ? इस का निरूपण श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रकार किया है:—

चत्वारो वै भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! चार प्रकार के सुकृति अर्थात् भाग्यशाली लोग परमेश्वर का भजन करते हैं। दुःखी जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। ध्यान देने की बात है कि इनमें सबसे पहिला नाम दुःखी का लिया गया है। इसका बड़ा पुष्ट कारण है। इसका कारण यह है कि संसार में प्रभु के स्मरण का सबसे स्वाभाविक अवसर दुःख है। इसीलिये किसी भक्त ने कहा है:—

दुख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करें, दुख काहे को होय॥

सबसे अधिक संख्या में लोग प्रभु का स्मरण दुःख में करते हैं। हम इस घटना से लाभ उठाना चाहते हैं। इस घटना से

लाभ उठाने का मार्ग यह है कि दुःख यदि सदा नहीं आता तो हम उसे बुलालें। प्रश्न उठता है कि दुःख भी बुलाया जा सकता है। हाँ, निस्सन्देह। यदि तुम्हें स्वयं दुःख नहीं है तो पड़ोसी का दुःख मोल लेलो।

इसी पर दुःख-प्रवेश का नाम वर्णव्यवस्था है। मानवसृष्टि के दुःखोंको शारीरिक सेवा द्वारा दूर करने का बीड़ा उठाने वाले का नाम शूद्र, धन द्वारा दूर करने के संकल्प करने वाले का नाम वैश्य, बाहुबल तथा प्राणाहुति द्वारा दूर करने वाले का नाम क्षत्रिय तथा विद्या, तप और त्याग द्वारा दूर करने वाले का नाम ब्राह्मण है। इस प्रकार हमने देख लिया कि प्राचीन पद्धति में संसार में आने से पहिले बालक के लिए कुलमर्यादा रूप संकल्प उपस्थित रहता था। इस संकल्प के भार को पूरा करने के लिये बालक अपनी निस्सहायता का अनुभव करता था। यह निस्सहायता का अनुभव ही आध्यात्मिक भूख है। निस्सहाय और परिमित तो हम सब हैं। किन्तु प्रमाद, आलस्य और अभिमान के वश होकर हम उस निस्सहायता का इसी प्रकार अनुभव नहीं करते जिस प्रकार व्यायाम न करने से हम भूख का अनुभव नहीं करते। यह निस्सहायता का अनुभव आध्यात्मिक भूख (Spiritual appetite) के नाम से पुकारा जा सकता है। यदि इस दृष्टान्त को थोड़ा और आगे खींचें तो संकल्प का आध्यात्म-क्षेत्र में वही स्थान है जो शरीर में व्यायाम का है। संकल्प के निरन्तर स्मरण से

आध्यात्मिक भूख ऐसे ही चमक उठती है जैसे व्यायाम से शरीर की भूख। फिर वही रोज के जपे मन्त्र ऐसे प्यारे लगते हैं जैसे भूखे को रोटी। इसके विपरीत संकल्प का अभ्यास न करने वाले को भजन में प्रवृत्त कराने के लिये प्रति दिन तरह तरह के रोचक व्याख्यान चाहियें। दुःख यह है कि फिर भी भूख नहीं चमकती जब तक दुःख रोग की तरह आकर घोर चोट नहीं लगाता।

यही वर्णव्यवस्था का लाभ है। यदि कोई बालक अपने कुल-संकल्प से ऊँचा उठने का संकल्प करे तो अहोभाग्य, परन्तु उसे कम से कम नीचे तो न जाना चाहिए। जो लोग जातपात तोड़ने तक अपने कर्तव्य की इति श्री समझते हैं वह इसका रस क्या जानें! अव्यवस्था दुर्व्यवस्था से कदाचित् अच्छी कही जा सके, परन्तु सुव्यवस्था का सौन्दर्य उसमें कहां? जब से हम संकल्प की महिमा को भूले तब से हमें सन्तान, विनोद-साधन अथवा गले का भारमात्र दीखने लगी है।

आपने देखा कि ब्रह्मचर्य अर्थात् प्रभु-भजन बिना संकल्प के नहीं हो सकता। अब यदि संसार भर के महापुरुषों को देखें तो उनमें इनेगिनों को छोड़कर सब ईश्वर भक्ति के सहारे बड़े हुए हैं। जो ईश्वर भक्ति के सहारे नहीं बढ़े वह भी किसी ईश्वर-भक्त के सहारे बढ़े हैं। परन्तु साथ ही एक बात और है कि महापुरुष का अर्थ ही है—'किसी महान्

उद्देश्य की पूर्ति करने वाला।' इससे पता लगा कि उनकी भक्ति का साधन संकल्प होता है। तीसरी बात यह है कि जहाँ दृढ़-संकल्प और भक्ति आते हैं वहाँ इन्द्रिय-संयम स्वयं ही आ जाता है। संसार में शायद ही कोई ऐसा महापुरुष दिखाया जा सके जो अपने अभ्युदय काल में संयमी न रहा हो। ऐसे महापुरुष तो दिखाये जा सकते हैं जो शक्ति-संचय कर लेने के पीछे योग-भ्रष्ट हो गये हों और विषयों में लिप्त हो गये हों। परन्तु बुद्धिमान् जानते हैं कि उस में ही वह अपने अधः पतन का बीज बो गये। परन्तु शक्ति-संचय काल में संयमी ही रहे हैं। इस प्रकार हम तीन वस्तुओं को साथ साथ चलते देखते हैं—ईश्वर भजन, शिवसङ्कल्प और इन्द्रिय-संयम।

सङ्कल्प और वर्ण व्यवस्था

आपने देखा कि शिवसंकल्प वह नाली है जिसके द्वारा प्रबल वेग से विषयों की ओर बहती हुई मनोवृत्ति की धारा को हम ब्रह्म नामक आनन्द के महासागर में डाल कहते हैं। यही संकल्प और ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध है। इसलिये जो सन्ध्या सीखना चाहें उन्हें सब से पहले शिवसंकल्प की अग्नि जलानी चाहिए। यदि दौर्भाग्य से वर्णव्यवस्था के लोप हो जाने से वह तुम्हें दायभाग में (विरासत में) नहीं मिली तो मत घबराओ। स्वयं सम्पति पैदा करो और आने वाली सन्तान का मार्ग सुगम बनाओ। इसी संकल्प को प्राचीन लोग ब्रह्मदाय,

क्षत्रदाय और वैश्यदाय कहते थे। ब्राह्मण-स्नातक का वर्णन करते हुए मनु कहते हैं:—

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा ॥

'अपने धर्म्म के अनुसार ब्रह्मदाय लेने वाले उस स्नातक को शय्या पर बैठा कर पिता उसका सबसे पहिले गोदान से सत्कार करे।'

हाय! आज तो हम स्नातक कहला कर भी 'ब्रह्मदाय' लेते हैं और न कदाचित् आनेवाली सन्तानों के लिये भी पैदा करते हैं। हमने उस विद्या के भण्डार दयानन्द की बातों का मर्म क्या जाना? कुछ नहीं। आशा है कि मेरे जिन स्नातक भाइयों के हाथ में यह पुस्तक पड़े वे अपना कर्त्तव्य समझेंगे।

आप लोगों ने सङ्कल्प और ब्रह्मचर्य्य का सम्बन्ध देख लिया। अब सङ्कल्प और गृहस्थ का सम्बन्ध तो स्पष्ट ही है।

संकल्प और गृहस्थ

जब विवाह सवर्ण के साथ उचित है अन्यथा दुःखदायी होता है और वर्ण का निश्चय उस सङ्कल्प के निरन्तर अभ्यास से होता है जो ब्रह्मचारी ने गुरुकुल में धारण किया हो, तो गृहस्थाश्रम का सङ्कल्प के साथ सम्बन्ध सुतरां स्पष्ट है। आज लोग विवाह के वर्षों पीछे जीवन का सङ्कल्प निश्चय करते हैं। इससे प्राय: वर्णसङ्कर होता है और गृहस्थ नरक बन जाता है। इसीलिये तो कृष्ण कहते हैं:—

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। गीता १. ४२.

अर्थात् वर्णसङ्कर नरक का देने वाला है। इस श्लोक का आशय न जानकर सनातनधर्मी परलोक में नरक ढूँढते रहते हैं। परन्तु यहाँ जो नरक बनता है उसकी इन भोले लोगों को कुछ भी चिन्ता नहीं।

इस प्रकार हमने सम्पूर्ण वर्णाश्रम-मर्य्यादा के मूलाधार, सब यज्ञों के उत्पत्तिस्थान, सङ्कल्प की महिमा संक्षेप से दिखा दी। वानप्रस्थ और संन्यास में भी सङ्कल्प का सम्बन्ध दिखाया जा सकता है, परन्तु दिग्दर्शनमात्र पर्याप्त समझ कर हम उसे छोड़ देते हैं।

भजन क्यों करें ?

यद्यपि यह प्रश्न सबसे पहिले उठना चाहिए था कि भजन क्यों करें, किन्तु इसे भी संध्या का एक वि समझ कर इसी प्रसंग में वर्णन करते हैं। यहाँ हम इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि हम यहाँ ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करने वालों का उत्तर नहीं दे रहे। वह तो उस विषय के ग्रन्थों में देखना चाहिए। यहाँ तो हम केवल उनका उत्तर देते हैं जो पूछते हैं कि मान लिया ईश्वर है और वह पुण्यापुण्य का सुख-दुःखरूप में फल देने वाला है, तो हमें उत्तम कर्म्म करने चाहिएँ, वह कुछ खुशामद से प्रसन्न होकर हमें छोड़ तो देगा नहीं। फिर हम भजन और उसके गुणों का कीर्तन क्यों करें ?

स्वभाव है

इसका पहिला उत्तर तो यह है कि यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह उत्तम गुण युक्त पदार्थ को देख मौन नहीं रह सकता। क्या हम प्रतिदिन नहीं देखते कि एक युवक-मण्डली किसी सुन्दर उद्यान में जाकर एक सुन्दर फूल देखती है तो हठात् सबके मुख से निकल पड़ता है—'वाह! वाह! क्या सुन्दर फूल है? वाह रे फूल!' यदि उनके मित्रों में से कोई अनमना होने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से उधर नहीं देखता तो सब उसे पकड़ कर कहते हैं—'अरे देख कम्बख्त! देखता क्यों नहीं?' फिर यदि देखकर वह उनकी तरह दीवाना नहीं हो जाता तो सब कहते हैं—'अरे तू तो निरा ठूंठ है. संसार में आकर तेरा जन्म निष्फल हो गया।' फिर भला जिसने उस सौन्दर्य्य के महासागर में हिलोरें खाए हों जिसकी छींटों पर संसार इतना मुग्ध होता है वह कैसे चुप रह सकता है? जिस प्रचार रसिक-मण्डली के लोग कहते हैं कि जिसने इस फूल के दर्शन का आनन्द नहीं लूटा उसका जन्म निरर्थक है। उसी प्रकार भक्त भी कहता है कि वाह जिसने भजन का आनन्द न लूटा उसका जन्म निरर्थक है। जिस प्रकार एक साधारण फूल की सुन्दरता के अनुभव से एक मनुष्य अपने अन्दर एक प्रकार की उच्चता अनुभव करता है और अपना अधिकार समझता है कि दूसरों को ठूंठ, कम्बख्त आदि शब्दों से याद करे, उसी प्रकार अनन्त सुन्दर के सौन्दर्य का साक्षात्कार करने वाला भी इसकी अपेक्षा सहस्रगुण वेग से अनुभव करता

है। हाँ, वह अधिक उच्चस्थिति पर होने के कारण इस सुख से वञ्चित लोगों को 'भोले' 'भूले हुए' आदि कोमल शब्दों से याद करता है और कभी कभी घोर अनीति देखकर झुंझला भी उठता है। परन्तु यह ईश्वर-स्तुति का कारण ऐसा है जिसका अनुभव वही करते हैं जिन्हें कारण पूछने की आवश्यकता नहीं रहती—जो साक्षात्कार कर चुकते हैं। प्रश्न यह है कि साधक लोग भजन क्यों करें।

कृतपापों के संस्कारों तथा अनागत पापों की निवृत्ति के लिए

मनुष्य अच्छा या बुरा जो काम करता है उसका संस्कार उसके अन्तःकरण में अवश्य पड़ता है जो धीरे धीरे स्वभाव का रूप धारण कर लेता है। किन्तु निर्मल, शान्त, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूप के चिन्तन से वह संस्कार धुलने लगते हैं और ताजे हों तो भली प्रकार धोए जा सकते हैं। वेदादि शास्त्रों में जहाँ कृतपाप की निवृत्ति का वर्णन किया गया हैं वहाँ उस पाप के ईश्वर द्वारा दिये जाने वाले फल की निवृत्ति नहीं कही। ध्यान रखना चाहिए वहाँ "पाप-निवृत्ति" लिखा "पाप-फल-निवृत्ति" नहीं। पाप-फल-निवृत्ति का मज़ेदार बाज़ार तो पुराणों में ही खुला है, अन्यत्र नहीं।

पाप-निवृत्ति का दूसरा अर्थ पाप से निवृति है अर्थात मनुष्य के हृदय में जो पाप करने के लिये प्रवृति उठे उसको निवृति है। इसी के लिये योग-दर्शन में कहा गया है "हेयं दुःखमनागतम्।" मनुष्य को पाप से रोकने में भय भी एक बड़ा साधन है। पाप

करने वाले एक छोटे से बालक के भी अकस्मात् उपस्थित होने पर पसीना छोड़ने लगते हैं । वर्त्तमान युग के सुधार का भास कितना चिल्लाते रहें किन्तु लोकभय, राजभय आदि भय संसार को मर्य्यादा में रखने का साधन सदा रहे हैं और रहेंगे । वस्तुतः देखा जायतो संसार को मर्य्यादा में रखने का सबसे बड़ा साधन भय है, यह कहना अत्युक्ति न होगी । परन्तु भयों में सर्वोच्च भय प्रभु का भय है । परन्तु इस भय में इतना भेद है कि यह सदा प्रत्यक्षगोचर न होने से तथा कालान्तर में फलदायक होने से अभ्यास के बिना हृदय में स्थान नहीं पाता । प्रभु है यह तो प्रमाण सिद्ध है । हम अपने आप को भयभीत करने के लिये उसकी कल्पित सत्ता स्थापित करते हैं—एक "प्रौढ़ लोगों का हौवा' बनाते हैं—यह बात नहीं । किन्तु उसकी तर्क-सिद्ध सत्ता का पूरा पूरा लाभ उठाना चाहते हैं । यद्यपि प्रभु है. किन्तु वह है इतना जान लेने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । किन्तु इस ज्ञान के निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है । बन्दूक की गोली भर कर लक्ष्य के सामने रख कर घोड़ा दबा कर शत्रु मरता है इतना जान लेने मात्र से शत्रु नहीं मरता । लक्ष्यवेध की विद्या जानने में सुगम होने पर भी अभ्यास में बड़ी कठिन है । यही बात भजन की है । जिस प्रकार शत्रु की गोलियों की घमसान में रणवाद्यों की गर्जना में, तोपों के भयंकर नाद में, उसका ही हाथ निश्चल होकर लक्ष्यवेध कर सकता है जिसने निरन्तर अभ्यास किया हो; इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोहादि शत्रु जिस

समय अपनी सेना सजा कर आते हैं उस समय वही वीर डट कर लोहा लेता है जिसने जगदम्बा का पेट भर दूध पिया हो और उसके रुद्र रूप का भी निरन्तर ध्यान किया हो। यह बात वही लोग जानते हैं जिन्होंने कभी यह युद्ध करके देखा है।

निर्भयता के लिये

जहां ईश्वर के भजन का यह फल होता है कि भक्त उस अन्तर्य्यामी, चराचर-साक्षी के रुद्र रूप से भय-भीत होकर पाप से निवृत्त होता है वहाँ जरा-मरणादि बाह्य दुःखों से निर्भय भी हो जाता है। वह जानता है कि जो प्रभु पाप करने पर दण्ड देता है वह धर्ममार्गमें चलने पर रक्षा भी पूरी करता है। जो लोग आज शक्तिहीन आर्य्य जाति को शक्तिमान् बनाना चाहते हैं उन्हें यह पाठ कभी न भूलना चाहिए।

हम अपने पक्ष को इतिहास से पुष्ट करते हैं। लोग कहते हैं कि इस्लाम गुण्डेपन से फैला। परन्तु हमतो देखते हैं कि इस्लाम गुण्डेपन से नष्ट हुआ। प्रथम तो देखना चाहिए कि इस्लाम का नेता जिन लोगों का उपदेश देता था क्या वह उनके मुकाबले में गुण्डा था। जो लोग मुहम्मद साहब के अरब के इतिहास को जानते हैं उन्हें पता है कि उनके जन्म से पहिले अरब के लोग पच्चीस २ स्त्रियों से विवाह करते थे। पति के मरने पर वे सब स्त्रियां केवल जननी को छोड़कर पुत्र की स्त्रियां बन जाती थीं। फिर प्रयोजन होने पर पति अपनी स्त्रियोंमें से दो चारको गिरवी भी रख सकता था। तो क्या जिस महापुरुष ने ४ पत्नी रखने

की मर्यादा चलाई वह उन लोगों के मुकाबिले में महात्मा न कहलायेगा ? जो लोग हज़रत मुहम्मद की जांच राम, लक्ष्मण, कृष्ण, शङ्कर, बुद्ध दयानन्दादि जगद्वन्द्य पुरुषों से मुकाबिला करके करते हैं वे भूलते हैं। इस्लाम प्रभु-भक्ति के बल से फैला। यह ठीक है मुसलमान आरम्भ दिन से शक्ति को पचा न सके। परन्तु जिन राजपूतों से वह लड़ते थे वह भी तो पच्चीस २ विवाह करते और एक दूसरे की लड़कियां छीनने में ही लगे रहते थे। हां, जब उन्होंने निरपराध सतियों को दुःख देना आरम्भ किया, जब उन्होंने गुरु तेगबहादुर जैसे शान्त प्रभु-भक्त पर अत्याचार किये, तो उनके गुरुडेक्न से जली हुई अग्नि में मुसलमानों का साम्राज्य भस्म होगया।

हज़रत मुहम्मद साहब के पुत्र पैदा हुआ। किन्तु कर्मफल-वश वह मर गया। इस पर उनकी आंखों में पानी देखकर किसी भक्त ने पूछा कि महाराज क्या आप भी रोते हैं ? इस पर उन्होंने बड़ी सरलता से उत्तर दिया कि मैं भी मनुष्य हूँ। कितना सच्चा उत्तर था ?

जिस महापुरुष ने पञ्जाब में मुग़ल राज्य का अन्त किया, उसका जीवन देखने से भी यही निश्चय होता है। जब गुरु गोविन्दसिंहजी के दो पुत्र धर्मत्याग न करने के कारण वध करा दिये गये, तीसरा युद्ध में मर चुका था और जो एक पुत्र शेष रह गया था वह भी युद्ध में मारा गया तो सङ्गत में से एक भक्त ने उठकर इन पर बड़ा दुःख प्रगट किया इस पर गुरु जी ने उत्तर

दिया उससे उनकी शक्ति का पता लगता है। वह भक्तों की सभा की ओर हाथ उठाकर बोले:—

इन पुत्रन के कारने वार दिये सुत चार।
'चार गए तो क्या हुआ जो जीवत कोटि हजार॥'

अब समझ सकते हैं कि सिक्ख लोग मुसलमानों को पराजित करने में क्यों समर्थ हुए। किन्तु हम तो इससे भी आगे जाना चाहते हैं। हम यह जानना चाहते हैं कि गुरु गोबिन्दसिंह जी अपने पुत्रों को इस वीरता से बलिदान करने में क्यों समर्थ हुए। इसका उत्तर गुरु ग्रन्थसाहब से ही मिलता है। एक बार किसी भक्त ने झूठी खुशामद करने के लिए गुरुजी से कहा कि महाराज आप तो साक्षात् परमेश्वर हैं। इस पर बिगड़ कर गुरुजी बोले:—

जे नर मोहि परमेश्वर उचरहीं।
ते नर घोर नरक में परहीं॥
हम हैं परम पुरुष के दासा।
देखन आए जगत तमाशा॥

गुरुजी की शक्ति का रहस्य इससे अधिक स्पष्ट शब्दों में मिल नहीं सकता। स्त्री-पुत्र, धन-धान्य सबको वह परम पुरुष का समझते थे, अपना नहीं। उसकी वस्तु उसको अर्पण करने में दुःख क्या ?—'इदमग्नये इदन्न मम।' अपना सिर भी वह अपना नहीं समझते थे, वह भी परम पुरुष का।

फिर मृत्यु से क्या डरना ? मृत्यु क्या है ? मानो स्वामी को उस की धरोहर (अमानत) देकर निश्चिन्त हो जाना है। "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" का इससे अच्छा भाष्य नहीं हो सकता। गुरुजी ने अपने शिष्यों के केश रखाये सही, परन्तु शक्ति केशों में नहीं थी। यदि केशों में रहती तो भूमण्डल भर की स्त्रियों में शक्ति होती। वे अबला न कहलातीं। इसी प्रकार कई लोग झटके में शक्ति मानते हैं। यदि मांस में शक्ति होती तो काश्मीर के सब मुसलमान वीर तथा रोहतक के सब जाट भीरु होते। शक्ति को इतना सस्ता समझना भारीभूल है। शक्ति कसाईकी अथवा झट कई की दुकान में नहीं मिलती, किन्तु परम पुरुष के दरबार में मिलती है। शक्ति की कीमत मुर्गी अथवा बकरे का सिर नहीं, अपना सिर है। जबसे सिक्खों ने इस रहस्य को भुलाया, झटके में और भोग-विलासों में शक्ति समझने लगे तब से परस्पर का ईर्ष्या-द्वेष बढ़कर उनका भी नाश हो गया।

आज मुसलमानों के अत्याचारोंसे पीड़ित होकर आर्य-जाति के कई नेता फिर यह भूल करने लगे हैं कि क्रोध आया किसी मुसलमान पर और निकाल लिया बकरे पर, मुर्गी पर अथवा उससे भी सुगम किसी अण्डे पर। चलो छुट्टी हुई। यदि इन निरापराध जीवों की हत्या से वीरता आती है तो नपुंसकता कहां से आती है ?

सादा जीवन, तप, ब्रह्मचर्य, प्रभु का भजन, वीर पुरुषों के जीवन चरित्रों का बार-बार परिशीलन आदि वीरता के सच्चे

उपायों को छोड़कर जो पुरुष आज आर्य जाति के बालकों को मांस, मच्छी और अण्डे खाने का उपदेश दे रहे हैं वे उनकी शक्तियों को उल्टे राह डाल रहे हैं। इनसे बढ़कर आर्य्य जाति का शत्रु न कोई हुआ न है और न होगा। इन मित्राभास शत्रुओं से इस जाति को परमेश्वर ही बचाये। वीरता का अर्थ है निर्भयता और निर्भयता का सबसे बड़ा साधन है ईश्वर-प्रणिधान। अर्थात् धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, यहां तक कि प्राण भी उस प्रभु की धरोहर समझना और जब उसके कार्य के निमित्त आवश्यकता हो तो हँसते २ दे देना। यह बात निरन्तर अभ्यास के बिना नहीं हो सकती। इसलिये मनुष्य को पाप से डरने तथा मृत्यु से न डरने के लिये निरन्तर प्रभु का भजन करना चाहिए।

परमेश्वर का भजन संस्कृत भाषा में ही हो सकता है तथा अन्य भाषा में नहीं; ईश्वर कह कर पुकारने से वह अधिक प्रसन्न होता है किन्तु सच्चे हृदय से अल्लाह कहने से वह नाराज़ होता है यह समझना भूल है। फिर प्रश्न होता है कि ऋषि दयानन्द ने पञ्चमहायज्ञ-विधिमें जो संध्या लिखी है उसके द्वारा भजन क्यों किया जाय? इसका उत्तर यह है कि ध्यान करने के समय जो विघ्न उपस्थित होते हैं, ध्यान करने वाले को जिन २ भूमिकाओं में से गुज़रना पड़ता है, ध्यान के लिये जो योग के आठ अङ्ग कहे गये हैं, उन सब का ऐसा सुसंगत समावेश इस से अधिक मार्म्मिक तथा भावगर्भ शब्दों में अन्यत्र नहीं मिलता। परन्तु इसका यह

वैदिक संध्या की विशेषता

तात्पर्य नहीं कि अन्य मार्ग से भजन नहीं हो सकता। एक मनुष्य के शरीर के लिए किस किस प्रकार का भोजन अपेक्षित है इसका वैज्ञानिक रीति से विचार करके चतुर वैद्य जो भोजन-पत्र तय्यार करते हैं उसके अनुसार एक व्यायाम-शील मनुष्य का शरीर अति वेग से उन्नति करता है। परन्तु यदि मनुष्य व्यायाम-शील हो और साधारण भोजन भी करे तो उसमें भी पर्य्याप्त पुष्टिकारक पदार्थ निकाल लेता है। लोग किसी देश, काल अथवा भाषा में भजन करें उनकी आत्मा बलवान् होकर न केवल अपने किन्तु अपने भाइयों के भी दुःख निवारण में समर्थ होती है। परन्तु जो पद्धति ठीक क्रम से बनाई गई है वह शीघ्र फल-दायक होती है। इन सन्ध्या के मन्त्रों में कौनसी मार्मिक शृङ्खला है, कौनसे भावगर्भ शब्द हैं यह हम आगे चलकर दिखायेंगे। किन्तु वैदिक सन्ध्या के अतिरिक्त अन्य सब शब्द प्रभु के भजन के उपयोगी नहीं हैं ऐसा संकुचित विचार आर्य लोगों का नहीं है। हाँ, इतना तो अवश्य है कि वह भजन किन्हीं शब्दों में हो, परन्तु हो परमेश्वर का। जो उसका भजन छोड़कर अन्य पदार्थों का भजन करेंगे वे चाहे वेद पढ़ें, अथवा लौकिक वाक्य पढ़ें, वे अवश्य अन्धकार में प्रवेश करेंगे।

सन्ध्या और अष्टाङ्ग योग

योग के आठ अङ्ग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि है। इनमें से हम सब से पहिले नियमों को लेते हैं:—

सन्ध्या करने वाले को मल त्याग कर, दन्तधावन तथा स्नान करके ध्यान में बैठना चाहिए। इनमें से जो अङ्ग जितना बाह्य है वह उतना गौण, तथा जितना अन्तरङ्ग है उतना ही मुख्य है। निःसन्देह प्रबल ध्यान-शक्ति वाला मनुष्य हर समय और हर अवस्था में ध्यान कर सकता है। किन्तु तो भी स्नान करने के पीछे चित्त में जो प्रसाद अनुभव होता है, ब्रह्म-ध्यान के लिए जो अनुकूलता होती है, वह अन्य समयों में नहीं होती यह अनुभव सिद्ध है।

शौच

इसका उत्तर भी ऊपर ही मिल गया है, शुचि-स्थान में मनु महाराज कहते हैं:—

सन्ध्या कहाँ करनी चाहिए

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः।

गीता में कृष्ण महाराज कहते हैं:—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।

अर्थात् नित्य-कर्म जल के समीप, पवित्र स्थान में करना चाहिए। यह नियम भी बाह्य होने से गौण है। यदि किसी को नदी का किनारा न मिले तो बाग का कुआ ही सही। वह न मिले तो जो स्वच्छ से स्वच्छ स्थान उसको उपलभ्य हो वहां करे। यह नहीं कि नदी-तट न हो तो सन्ध्या ही नहीं करनी।

सन्तोष, तप, स्वाध्याय आदि नियमों का मूल्य भी इसी प्रकार समझना चाहिये। जो तपस्वी न हो तो आलस्य-वश सन्ध्या छोड़ बैठेगा। लोभी होगा तो 'दो पैसे और' की चिन्ता में

सन्ध्या छोड़ देगा इत्यादि। परन्तु इनका विशेष विस्तार करने से ग्रन्थ का कलेवर बहुत बढ़ जायगा इसलिये यहाँ उनका वर्णन नहीं करते। ईश्वर प्रणिधान के विषय में विस्तार की आवश्यकता थी सो तो हमने आरम्भ में ही कर दिया है।

अहिंसा

नियमों के पश्चात् अब यमों को लीजिये। 'मनसापरिक्रमा' के मन्त्र अहिंसा के अभ्यास के लिये हैं। उपस्थान मन्त्र' सत्य के अभ्यास के लिये हैं, तथा 'तच्चक्षुर्देवहितं' यह मन्त्र ब्रह्मचर्य्य की महिमा गा रहा है।

प्राणायाम तथा धारणा

'ओम् भूः पुनातु शिरसि' से आरम्भ करके 'खम् ब्रह्म पुनातु सर्वत्र' तक मन्त्रों में "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" इस धारणा नामक अङ्ग का समावेश है। इसका विवेचन इन मन्त्रों की व्याख्या के समय करेंगे।

आसन

योगदर्शन में कहा है—'स्थिरसुखम् आसनम्।' प्रश्न उठता है कि पद्मासनादि अनेक आसनों का क्या उपयोग है? सो इसका तात्पर्य यह है कि आसन समय समय पर अनेक विघ्नों को दूर करते हैं। जैसे पद्मासन निद्रा को दूर करता है। परन्तु साधारण अवस्था में सुखासन ही श्रेष्ठ आसन है क्योंकि अन्य आसनों के कष्ट-साध्य होने के कारण उसमें चित्त-वृत्ति की एकाग्रता नष्ट होती है, निद्रा का विघ्न उपस्थित होने पर अंगूठे पकड़ कर पद्मासन लगाने से निद्रा दूर होती है। परन्तु जो औषध रोग में सहायक है वह

स्वस्थ मनुष्य का भोजन नहीं बनाया जा सकता। इसीलिए जो लोग आसन में ही योग की 'इति श्री' समझते हैं वे भूल करते हैं।

इन्हीं अङ्गों के निरन्तर अभ्यास से समाधि की प्राप्ति होती है। इसलिए उसका विशेष वर्णन नहीं करते। वह योगदर्शन में देखना चाहिये। 'प्रात्याहार' और 'ध्यान' समाधि में ही आगये। इसलिए उसका भी वर्णन नहीं करते।

समाधि

इस प्रकार अष्टाङ्ग-योग का सन्ध्या में दिग्दर्शन कराके संध्या के काल का निर्णय करते हैं। प्रश्न उठ सकता है कि क्या ऐसे पवित्र कर्म्म के लिए भी समय पूछना पड़ता है? तो इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो यह भी भूल है कि सदा ईश्वर का ध्यान करते रहना धर्म है। यदि मनुष्य २४ घण्टे ईश्वर ईश्वर चिल्लाता रहे तब तो वह संध्या का उद्देश्य ही नष्ट कर देता है, संध्या का उद्देश्य कार्य-शक्तिको बढ़ाना है किन्तु जो शक्ति बढ़ाता ही रहे उसका उपयोग कभी न करे उसकी शक्ति भी नहीं बढ़ती। भोजन का उद्देश्य शरीर की शक्ति बढ़ाना है। किन्तु यदि कोई मनुष्य सम्पूर्ण दिवस भोजन ही करता रहे तो उसकी शक्ति बढ़ने के स्थान में घटेगी। इस बात को हम दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। एक मनुष्य के तीन पुत्र हैं। उसने तीनों को पांच सौ रुपये दिये कि इसका सदुपयोग करो मैं और दूंगा। वह तीनों घर

संध्या कब करें ?

से निकले। एक ने पांच सौ रख दिये और दिन रात पिता-पिता करने लगा। दूसरा व्यापार तो करने लगा किन्तु पिता को भूल गया और तीसरा नियत समय पर प्रति दिन पिता का स्मरण करता और नियत समय पर व्यापार करता था। प्रथम पुत्र अपनी पूञ्जी रोज खाता और पिता पिंता करता था। अन्त में जब १००) रु० रह गये तो पिता के पास आया पिता ने पूछा पहिले ५००) रु० कहाँ हैं ? तो कहने लगा खा गया पिता ने वह १००)रु० भी छीन लिये। दूसरा पुत्र भी कुछ दिन तक व्यापार करता रहा। किन्तु एक दिन जुआरियों की संगति में पड़कर सब गवाँ बैठा। फिर पिता के पास आखड़ा हुआ। पिता ने और दण्ड देकर विदा किया।

तीसरे पुत्र ने पिता के सामने ५००) के १०००)रु० बनाकर दिखाए। पिता ने प्रसन्न होकर १०००) और दिये। यही हमारा हाल है। प्रभु ने हमें हाथ, पैर, आँख, कान और इन सबसे बढ़कर बुद्धि का धन दिया है। किन्तु जो इसका उपयोग न करके सारे दिन राम राम चिल्लाते हैं वे महा मूर्ख हैं। दूसरी ओर जो मनुष्य केवल इनके उपयोग में लगे रहते हैं वे प्रभु की सत्ता को भूल कर अनेक दुर्व्यसनों में फंस कर एक बार में सब गंवा बैठते हैं। किन्तु जो इन शक्तियों के सदुपयोग के साथ-साथ उसका स्मरण भी करते हैं उनका सदुपयोग स्थिर बना रहता है और वे दिन दिन अधिक शक्ति पाने के अधिकारी होते हैं। इसीलिए कृष्ण महाराज ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

'जो मनुष्य भोजन, व्यवहार, भजन, उठना आदि कर्म सब नियम से करता है उसी के लिए योग दुःख दूर करने वाला है।' इसलिए भजन की भी मर्य्यादा आवश्यक है। इसलिये मनु महाराज इसकी मर्य्यादा करते हैं—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमान्तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥२।१०१

'प्रातःकाल की संध्या में सूर्य्य दर्शन होने तक गायत्री का जप करे। सायंकाल को भली प्रकार तारा-दर्शन तक संध्या करे।

सन्ध्या काल और पंडित सातवलेकर जी

पं० सातवलेकर जी ने अपनी पुस्तक में दो, तीन और चार वार भी संध्या लिखी है और इस विषय में वेद के प्रमाण भी दिए हैं। हम उन प्रमाणों की परीक्षा करना चाहते हैं। तीन बार संध्या के उन्होंने कई प्रमाण दिए हैं। उनमें से एक प्रमाण हम लेलेंगे एक प्रमाण उन्होंने चार बार संध्या का दिया। इसकी भी परीक्षा करेंगे। पहिले हम चार बार की संध्या का प्रमाण लेते हैं—

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा ।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥

इस मन्त्र की व्याख्या में पूज्य पंडित जी लिखते हैं कि "सायं प्रातः, दिवा रात्र्या ये चार शब्द चार विभागों के बोधक हैं।" पंडित जी हमें क्षमा करें, यों तो दिवा और रात्र्या इन दो भागों में पूरे २४ घण्टे आगए। अच्छा हम थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं कि सायं और प्रातः की सन्धिवेला को इन दिन और रात से अलग कर देना चाहिए। तो भी इन चारों के मिलने से पूरे २४ घण्टे आगए। तो क्या परिडत जी की सम्मति में निद्रा, स्नान, मलत्याग, भोजन, स्वाध्यायादि सब कर्म परित्याग करके २४ घण्टे "नमः ही नमः" करते रहना चाहिए? सचमुच वेद का ऐसा उपहसनीय आशय नहीं है। वेद का आशय क्या है वह अगले शब्दों में वेद ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है। यह नमः क्रिया किसके लिये की जाती है? 'भवाय च शर्वाय च उभाभ्याम्' भव और शर्व दोनों के लिए। इस 'उभाभ्याम्' की ओर पंडित जी का ध्यान नहीं गया। वेद का आशय स्पष्ट है। मैं सायं शर्व को नमस्कार करता हूँ। इधर मैंने अपने दैनिक कार्य्यों का संहार किया है और उधर उसने सूर्य की रश्मियों का संहार करके कार्य बन्द करने की सूचना दी है। इसलिये यह काल सायंकाल है क्योंकि इसमें सब कार्यों का अन्त होता है (षो-अन्तकर्मणि)। मैं सायंकाल नमन इसलिए करता हूँ कि रात्रि भर निद्रा में मेरा सिर उस जगज्जननी के चरणों में झुका रहे। प्रातःकाल आया, शर्व की शर्वरी गई अब "प्र अतः" अर्थात् यहाँ से सब कार्य्य प्रारम्भ होते हैं, ऐसा समय आया।

इस समस्त दैनिक व्यापार के भवकाल में मैं भव का स्मरण करता हूँ जिससे समस्त दिन मेरा सिर उसके सामने झुका रहे। पण्डित जी का ध्यान सायं, प्रातः, रात्र्या, दिवा इन चार की ओर तो गया किन्तु 'भवाय शर्वाय उभाभ्याम्' इस "उभाभ्याम्" की ओर नहीं गया इसी लिए यह भूल हुई। यही बात इस रहस्य को समझ कर मनु महाराज ने इस प्रकार कही है:—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवा कृतम्॥

प्रातः सन्ध्या के जप से रात्रि भर की और सायं सन्ध्या से दिन भर की दुर्वासनाओं का नाश होता है।

अब लीजिये त्रिकाल सन्ध्या का प्रमाण—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यं दिवस्परि।
श्रद्धां सूर्य्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

'प्रातः, सायं और मध्याह्न में हे श्रद्धे! हमारे अन्दर सत्य की स्थापना कर।' अथवा "धेट्" पाने से सत्य पिला ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं। अब प्रश्न उठता है कि श्रद्धा तो यज्ञ मात्र की जननी है फिर पण्डित जी ने श्रद्धा का अर्थ केवल सन्ध्या ही कैसे कर लिया। ब्रह्म यज्ञ और बलिवैश्वदेव दोनों ही श्रद्धा-जन्य हैं। स्मृतिकार मनु महाराज ने सन्ध्या प्रातः सायं रखी है, और बलिवैश्वदेव भोजन से पूर्व मध्याह्न में। पण्डित जी ने

तीनों स्थानों में सन्ध्या अर्थ क्यों किया यह निश्चित रूप से समझ में नहीं आता ।

तीन बार सन्ध्या करने से कुछ पाप उदय होता है ऐसा हमारा आशय नहीं है । किन्तु समाज में एक मर्यादा बांध दी जाती है कि अमुक कर्म्म इतनी बार अवश्य करना । सो वह नित्य-विधि सायं प्रातः दो काल में सन्ध्या करने की है ऐसा जो निश्चय शास्त्रमर्मज्ञ महर्षिने किया है वह ठीक ही है । आशा है पण्डित जी हमारी धृष्टता को क्षमा करेंगे ।

वैदिक सन्ध्या का आरम्भ चित्त-समाधान से होता है । इसके लिये आचमन किया जाता है । फिर शान्त तथा समाहित चित्त से आत्मपरीक्षण होता है । आत्मपरीक्षण के पीछे आत्ममार्जन है । फिर आत्मप्रोत्साहन है । यहां तक के कर्म्म पवित्र व्रताभ्यास के लिये चित्त की उचित तय्यारी करने के निमित्त हैं । फिर मनसापरिक्रमा के मन्त्रों से अहिंसा-व्रत का धारण होता है । फिर 'उद्वयं' से लेकर 'चित्रं देवानां' तक तीन मन्त्रों से सत्यव्रत की महिमा बताई है फिर 'तच्चक्षुः' इस मन्त्र में ब्रह्मचर्य्यव्रत फिर गायत्री में ईश्वर प्रणिधान और फिर 'नमः शम्भवाय च' इस मन्त्र में 'शम्' के साथ इस यज्ञ की समाप्ति होती है । इस प्रकार इसमें चित्त समाधान, आत्म-परीक्षण, आत्ममार्जन, आत्मप्रोत्साहन, व्रतधारण, ईश्वरार्पण तथा उपसंहार यह सात अङ्ग हैं । इनकी विशेष व्याख्या क्रमशः अपने अपने स्थान पर हो जायगी ।

सन्ध्या यज्ञ की क्रियाओं का क्रम

अथ ब्रह्मयज्ञः

तत्राचमनम्

ओ३म् । शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥

अर्थ—वह (आपः) सब कामनाओं को प्राप्ति कराने वाली (देवीः) दिव्य प्रभुशक्ति (नः) हम सब के लिये (अभीष्टये) अभीष्ट सिद्धि के लिये और (पीतये) परम रस का पान करने के लिये (शम्) शान्तिदायक (भवन्तु) होवे और (शंयोः) सुख को (अभिस्रवन्तु) बरसाये ।

सन्ध्या-यज्ञ में सब से पहला मन्त्र आचमन मन्त्र है । जल का आचमन इस मन्त्रसे किया जाता है । मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का आरम्भ भी शान्ति से है और समाप्ति भी शान्ति पर है । जिस उद्योग से अन्त में परम शान्ति का लाभ न हो वह व्यर्थ है । और जो उद्योग शान्त तथा समाहित चित्त से उपायापाय का निर्णय किए बिना किया जाय वह कभी सफल नहीं हो सकता । इसलिये इस आध्यात्मिक उद्योग—ब्रह्मयज्ञ—का आरम्भ भी 'शम्' नो (देवीः) से हुआ है और समाप्ति भी 'नमः शम्' (भवाय) से हुई है । इस शान्ति की प्रार्थना को जीता जागता रूप देनेके लिए वही पदार्थ लिया गया है जो स्थूल जगत् में शान्ति का सब से सुलभ साधन है। मानो मनुष्य अपने आपसे कह रहा है कि जिस प्रकार यह जल शरीर

के मलों को दूर करता है और शान्ति पहुँचाता है, ठीक इसी प्रकार मुझे इस समय शान्तचित्त होकर आध्यात्मिक चिन्तन में लगना चाहिए। इसी लिए जिस प्रकार उत्तम सङ्गीत-समाज में जो गाना कण्ठ से गाया जाता है वही वाद्य में बजाने से एक चमत्कार उत्पन्न करता है, उसी प्रकार यहाँ भी जो शान्ति का राग अब अध्यात्म-जगत् में आलापा जाने वाला है वही शरीर की वीणा में बजाया जाता है। जिस प्रकार शिर के अन्दर की बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करना है उसी प्रकार शिरके बाहर बिखरी हुई शिखा का भी बंधन होता है। यह क्रियाएं अलङ्कार मात्र हैं। इसीलिए यदि कारणवश कोई इन्हें न कर सके, जल न मिले अथवा शिखा-स्थान ही खल्वाट हो तो उससे सन्ध्या में कोई व्याघात न होता। हां, इन क्रियाओं के होने से चमत्कार अवश्य उत्पन्न होता है। परन्तु अलङ्कार के पीछे देह को न गंवाना चाहिए। यह बात केवल कल्पनामात्र नहीं है। शतपथ ब्राह्मण का आरम्भ ही इस आचमन-क्रिया की व्याख्या से होता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उपस्पर्शन अर्थात् आचमन क्यों किया जाता है? इसका उत्तर देते हैं—'तेन हि पूतिरन्तरतः मेध्या है वै आपः मेध्यो भूत्वा व्रतमुपयानि।" जल शान्त तथा पवित्र है, मेधा के लिए हितकर है मैं भी मेध्य अर्थात् मेधा-व्यापारानुकूल अवस्था में होकर बैठूं, इसीलिए जलसे आचमन किया जाता है।'

अब मन्त्र को लीजिये। मर्मानभिज्ञ व्याख्याकारों ने इसका

आचमन में विनियोग देखकर इसकी व्याख्या भी जलपरक ही करदी है। किन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि वेद ने स्वयं कहा है "ता आपः स प्रजापतिः" (यजु ३२) 'आपः' नाम उसी प्रभु का ही है। वह सब शान्ति-कामना करनेवालों की कामनाओं का आपयिता—प्राप्त कराने वाला—है। वह गुण जल में होने से जलको भी 'आपः' कहते हैं। अब अध्यात्म प्रकरण में, ब्रह्म-यज्ञ के प्रसङ्ग में, इसका अर्थ जल करना कोरी मूर्खता है। हां, जिस शान्ति-गुण की कामना करनी है वह जल में होने से विनियोग की सुन्दरता का पता लगता है। परन्तु यह तभी होता है जब मूल अर्थको समझ कर विनियोग उसके पीछे चलाया जाय, जो विनियोग के पीछे मूल को चलाते हैं वे वस्त्र के पीछे शरीर को चलाते हैं। वे शरीर के स्थूल होने पर वस्त्र को ढीला नहीं करते किन्तु वस्त्र तङ्ग होने पर शरीर को छीलते हैं। प्रभु ऐसे लोगों से वेद की रक्षा करें।

जो सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कराने वाली है, जिसकी वात्सल्य-धारा नदी-नालों में ही नहीं परन्तु पत्ते २ में से टपक रही है, आज इस अध्यात्मज्ञ के समय सबसे पहिले मैं उस जगदम्बा की शरण में जाता हूँ। वह सब कामनाओं का प्राप्त कराने वाली देवी हम सबके लिए, केवल मेरे लिए नहीं, अभीष्ट सिद्धि के लिए और परमरस का आस्वादन करने के लिए शान्तिदायक हो।

हमने भाषामें 'आपः' तथा 'भवन्तु' का अनुवाद एक वचन

में किया है क्योंकि भाषामें इस प्रकार का स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त शब्द इस अर्थ को दिखाने के लिए मिल नहीं सकता। यहां बहुवचन इसी लिए है कि प्रभु केवल एक प्रकार की प्यास ही नहीं बुझाता वह हमारी अनेक प्रकार की प्यासों का बुझाने वाला है। साथ ही इस शान्ति के प्रकरण में उस प्रभु को पुल्लिङ्ग से स्मरण न कराके स्त्रीलिंग से स्मरण कराने में परम कवि ने चमत्कार रक्खा है उसका आनन्द वही ले सकते हैं। जिन्होंने अलङ्कार शास्त्र में प्रवेश किया है।

अथांगस्पर्शः

ओ३म् वाक् वाक्। ओ३म् प्राणः प्राणः। ओ३म् चक्षुः चक्षुः। ओ३म् श्रोत्रम् श्रोत्रम्। ओ३म् नाभिः। ओ३म् हृदयम्। ओ३म् कण्ठः। ओ३म् शिरः। ओ३म् बाहुभ्यां यशोबलम्। ओ३म् करतलकरपृष्ठे॥

अर्थ—प्रभु-कृपा से मेरे वाक् आदि इन्द्रियों में यश और बल प्राप्त होवे।

अब शान्त-चित्त होकर जिस प्रकार एक उत्तम दूकानदार प्रातः कार्य आरम्भ करने से पहले और सायंकाल को दूकान बन्द करते समय अपने हिसाब की पड़ताल करता है और देख लेता है कि मैं कहाँ से कहां तक पहुँचा हूँ, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि प्रातः सायं अपनी दिव्य-सम्पत्ति की

पड़ताल करे। वैदिक धर्म शरीर के मल-मूत्र का थैला होने की सुहारनी नहीं रटता। वैदिक धर्मी के लिए शरीर 'नरक का द्वार' 'दुःखों का पिटारा', असह्य जेलखाना', कुछ नहीं है। उसके लिए यह देव-पुरी है।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

अथर्व० १०।२।३१

'अर्थात् यह शरीर आठ चक्रों तथा नौ दरवाजों वाली एक नगरी है। इसके राजा का कर्त्तव्य है कि काम, क्रोधादि शत्रुओं से इसे अयोध्या अर्थात् युद्ध में परास्त न होने वाली बनादे। क्योंकि इसमें परम सुखकी ओर ले जाने वाला ज्ञानमय सुनहरी खजाना भरा पड़ा है।

वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि सब ही ज्ञान इन्द्रियें देव हैं जो इस नगरी में बसते हैं। परन्तु इनकी पड़ताल कैसे की जाय इसका स्पष्टीकरण 'बाहुभ्याँ यशोबलम्' इस वाक्य में आकर हुआ है। 'यशोबलम्' में दो प्रकारसे समास किया जा सकता है, एक तो 'यशश्च बलश्च' यह समाहार द्वन्द्व, दूसरा 'यश एव बलम्।' एक का अर्थ है 'यश और बल', दूसरे का अर्थ है 'यश रूपी बल' दोनों प्रकार के अर्थों में अपना चमत्कार है। हम देखें कि हरएक इन्द्रिय बलवान् है वा नहीं और हमारे यशका कारण है वा नहीं। दूसरा ओर 'यश रूपी बल' इस अर्थ में भी अपना

चमत्कार है। संसार में यश भी एक अद्भुत बल है। दो बालक गली में खड़े हुए खेल खेल रहे हैं। एक दूसरे को चोर चोर कह कर पकड़ने भागता है। गली में एक सचमुच का चोर जा रहा है वह भाग खड़ा होता है। बालक हंसी से अपने साथीको चोर कह रहा है। परन्तु चोरका शङ्कित मन उसे खड़ा नहीं होने देता, चोर के हृदय में अशान्ति की पराकाष्ठा है।

एक साधारण गृहस्थ को दूसरा आदमी चोर कहता है। वह उस समय कुछ नहीं कहता। न्यायालय में जाकर मानहानि का दावा करता है। अनेक वकीलों द्वारा युद्ध करके विजयी होता है। तब कहीं थोड़ी सी शान्ति-लाभ करता है।

तीसरी ओर एक महात्मा है। उसे भी एक क्षुद्राशय ने चोर कहा। महात्मा ने प्रशान्त मुद्रा से थोड़ा सा मुस्करा दिया। वह जानता है कि उसके पास 'यशोबल' का अखूट भण्डार है। इसके फूंक मारने से वहां तरंग भी नहीं उठती। यहां शान्ति है—वह शान्ति है जिसकी खोज में हमने यात्रा आरम्भ की है।

यह 'यशोबलम्' ही इन वाक्यों का सार है। वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि, हृदय, कण्ठ, शिर, बाहु और हाथ सबको इसी कसौटी पर परखना है। देवपुरी के इस देव में बल कितना है और इसने कोई अपयश का काम तो नहीं किया? देवत्व से पतित तो नहीं हुआ? यदि ज्योतिर्मय कोषको लूटने वाला कोई शत्रु यहां नहीं घुसा तो यही स्वर्ग है।

अब प्रश्न उठता है कि सबसे पहले वाक् को क्यों लिया

गया ? इसका उत्तर है कि हम अपने दैनिक व्यवहार में दूसरों के सम्बन्ध में जिस इन्द्रिय को सबसे अधिक काम में लाते हैं, वह वाक् है। वाक् से आरम्भ करके नासिका, नेत्र श्रोत्र से होता हुआ नाभि पर आता है। वहां से हृदय पर, हृदयसे कण्ठ पर, कण्ठ से सिर पर, शिर से वाहु और वाहु से हाथ पर इस यात्रा को समाप्त करता है।

इस में क्रम यह है कि 'वाक्' से 'कण्ठ' तक एक चक्र है—वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि, हृदय, कण्ठ । दूसरे अर्थों में मुख से आरम्भ करके पीछे से होकर नाभि और फिर वहां से ऊपर की ओर उठते हुए कण्ठ अर्थात् वाणी तक आगये। जो इस यशोबल के आवर्त (चक्र) को पूरा कर लेता है उसका शिर यशोबल प्राप्त करता है और तब वह कर्म-क्षेत्र में अर्थात् भुजा-हाथों से, यशोबल प्राप्त करने का अधिकारी होता है। इसी भुजा के साथ ही 'यशोबलम्' का उच्चारण किया है। परन्तु वस्तुतः यह 'यशोबलम्' वाक्, प्राण आदि सब के साथ ही लगा समझना चाहिए।

'यशोबलम्' के पश्चात् 'करतलकरपृष्ठे' यह वाक्य है। इसका अर्थ है कि जब कर्म-क्षेत्र में प्रवृत्त हो तो हाथ की हथेली की ओर मत देखा कर, उसकी पीठ भी देख लिया कर। केवल यह जानने की चेष्टा मतकर कि तुझे तेरे कर्म कैसे दिखाई पड़ते हैं, यह भी जानने के लिए ज्ञानवान् बन कि दूसरों को तेरे कर्म कैसे दिखाई देते हैं। इस प्रकार सार यह हुआ—

ओं वाक् वाक् (यशोबलम्), ओं प्राणः प्राणः (यशोबलम्) ओं चक्षुः चक्षुः (यशोबलम्), ओं श्रोत्रम् श्रोत्रम् (यशोबलम्), ओं नाभिः (यशोबलम्), ओं हृदयम् (यशोबलम्), ओं कण्ठः (यशोबलम्), ओं शिरः (यशोबलम्) ओं बाहुभ्यां (यशोबलम्) ओं करतलकरपृष्ठे।

अथमार्जनम्

ओ३म् भूः पुनातु शिरसि। ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः। ओं स्वः पुनातु कण्ठे। ओं महः पुनातु हृदये। ओं जनः पुनातु नाभ्याम्। ओं तपः पुनातु पादयोः। ओं सत्यम्पुनातु पुनः शिरसि। ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र।

अर्थ—(भूः) सबका उद्भवस्थान प्रभु (शिरसि) सिर में (पुनातु) पवित्रता करे। (भुवः) उत्पत्ति का साधन प्रभु। (नेत्रयोः) मेरे नेत्रों में (पुनातु) पवित्रता करे। (स्वः) सुख-स्वरूप प्रभु (कण्ठे) मेरे कण्ठ में (पुनातु) पवित्रता करे। (महः) महान् प्रभु (हृदये) मेरे हृदय में (पुनातु) पवित्रता करे। (जनः) जनक प्रभु (नाभ्याम्) मेरी नाभि में (पुनातु) पवित्रता करे। (तपः) तपोमय भगवान् (पादयोः) मेरे पैरों में (पुनातु) पवित्रता करे। (सत्यं) सत्यशील प्रभु (पुनः) फिर (शिरसि) सिर में (पुनातु) पवित्रता करे। (खं)

आकाश की तरह व्यापक (ब्रह्म] महान् प्रभु [सर्वत्र] मुझे सर्वत्र (पुनातु] पवित्र करे।

अब पश्चात् मार्जन-मन्त्र आरम्भ होते हैं। मार्जन का अर्थ है साफ़ करना। जब पहिले मन्त्रों द्वारा मनुष्य ने अपनी देव-सेना की परीक्षा की, अपनी बही का लेखा मिलाया, उसके पश्चात् जहां-जहां दोष दिखाई दिया उसका मार्जन होना ही चाहिए। इसलिए इन वाक्यों में पुनातु' पवित्र करे यह शब्द बारम्बार दोहराया गया है। यहां हमें केवल,

भूः	शिरः
भुवः	नेत्र
स्वः	कण्ठ
महः	हृदय
जनः	नाभि
तपः	पाद [पैर]

इन वाक्यों तथा अङ्गों में क्या क्रम तथा क्या साभिप्रायता है यह दिखाना है।

सब से पहले सिर को लीजिये। सिर हमारे सम्पूर्ण शारीरिक तथा मानस क्रिया-कलाप की जन्मभूमि है। इसीलिये यहां परमात्मा को 'भूः' अर्थात् उद्भव स्थान के नाम से याद किया गया है।

अगला शब्द 'भुवः' है। 'भुवः' का अर्थ है होने का

साधन अर्थात् जैसे सिर सम्पूर्ण क्रिया-कलाप का स्थान है, निधान है, निकेतन है, उसी प्रकार नेत्र भी साधन हैं। सिर में जितना ज्ञान भण्डार है वह नेत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही भरता है। इसलिये नेत्र यहाँ सब ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण होकर आया है।

कई पाठक सम्भव है उपलक्षण को न समझ सकें, इसलिये हम उपलक्षण शब्द की व्याख्या कर देते हैं। संसार में कई शब्द अपने प्रकार के वाचक हो जाते हैं। जैसे कभी कभी कहा जाता है कि देखना बच्चा! दही का ध्यान रखना, कुत्ता न खा जाय। एक बालक भी समझता है कि कुत्ता का अर्थ बिल्ली कौव्वा आदि सब ही खाने के अधिकारी हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि कुत्ते को तो न खाने देना परन्तु बिल्ली आए तो उसे खिला देना। इसी प्रकार यहाँ नेत्र से तात्पर्य सब ही ज्ञानेन्द्रियों से है परन्तु मुख्य होने से नेत्र का नाम दे दिया है। वह सम्पूर्ण ज्ञान की वृद्धि का साधन प्रभु, मेरे नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों को पवित्र करे। ज्ञान का जन्म और ज्ञान की वृद्धि दो का वर्णन हो चुका। अब उसके अन्दर से बाहर आने की, दान करने की, बात उठी तो हम कण्ठ पर आ गए। यहां सुखस्वरूप [स्वः] परमात्मा का स्मरण किया गया है क्योंकि वाणी की पवित्रता इसी में है कि वह संसार के लिये सुखदायिनी होकर निकले। अब प्रश्न उठता है कि वाणी सुख स्वरूप कैसे हो। इसका उत्तर अगले वाक्य में देते हैं—

ओं मह पुनातु हृदये ।

वाणी मीठी उसी की होती है जिसका हृदय विशाल हो। क्षुद्र-हृदय लोगों का स्वभाव है कि अपने से शक्तिशाली की सदा खुशामद और अपने से छोटों के साथ सदा कठोर व्यवहार किया करते हैं। वस्तुतः इससे ठीक उलटा होने की आवश्यकता है। क्योंकि संसार में जो बड़े कहलाते हैं उन्हें उनके दोष सुनाने वाला और छोटों को सान्त्वना देने वाला कोई बिरला ही होता है। महापुरुषों के हृदय से कभी कठोर शब्द भी निकलते हैं तो उनमें बदला लेने का भाव कभी दृष्टिगोचर नहीं होता। वह कठोरता भी कल्याण के लिये ही होती है। परन्तु इसके लिये दिल बड़ा चाहिए। इसी प्रकार छोटे हृदय वाले लोग एक मनुष्य के दुर्व्यवहार से सम्पूर्ण जाति के शत्रु अथवा एक के सद्व्यवहार से सम्पूर्ण जाति के अन्ध प्रशंसक बन जाते हैं। प्रायः देखने में आता है कि जिन पुरुषों को पत्नी कर्कशा मिल गई वह सम्पूर्ण स्त्री-जाति को कोसा करते हैं और जिनको पति बुरा मिल गया वे स्त्रियां पुरुष जाति-मात्र की निन्दा में तत्पर रहती हैं। परन्तु यह सब बातें हृदय के छोटेपन का प्रमाण है। मानो उनकी प्रेमशक्ति एक स्त्री वा पुरुष को देख कर समाप्त होगई। वस्तुतः ऐसा नहीं होना चाहिए। वाल्मीकि रामायण में महाराज दशरथ कैकेयी पर क्रुद्ध होकर कह बैठे—

अहो स्त्रियः शठाः नूनमहो स्वार्थपरायणाः ।

अर्थात् यह स्त्रियें सबकी सब धूर्त और स्वार्थ-परायण होती हैं परन्तु यह क्षुद्र हृदयता उनकी एक क्षण से अधिक न ठहर सकी। दूसरे ही क्षण बोले—

न ब्रवीमि स्त्रियः सर्व्वाः भरतस्यैव मातरम्।

मैं सब स्त्री जाति को नहीं कहता यह मेरी भूल थी, यह तो मैं केवल भरत की मां को ही कहता हूँ।' इस प्रकार हरएक मनुष्य को इस क्षुद्रहृदयता से बचने में सदा तत्पर रहना चाहिए। मनुष्य के हृदय का बड़प्पन दो स्थान पर पता लगता है। एक तो अपने दुर्बलों के प्रति व्यवहार में और एक अपने से अधिकारियों का सामना करने में। इन दोनों प्रकार के बड़प्पन के लिए, ईश्वर को याद भी उसी नाम से करते हैं—ओं महः पुनातु हृदये—'वह महान् तेजोमय परमेश्वर मेरे हृदय को पवित्र करे।'

क्रमशः सिर से ज्ञान के बाह्य कारण नेत्र पर आये। वहाँ से ज्ञान के दान मार्ग कण्ठ पर आये। वहां से हृदय पर आये अब हम हृदयकी विशालता के कारण की ओर आते हैं। सम्भव है कि कई लोग कह उठें कि हम उच्च शिखर से गह्वर में आ गिरे—Sublime से Ridiculous में आ गये परन्तु सूक्ष्मदर्शी लोगों के लिए कोई भी बात यदि सत्य हो तो फिर वह तुच्छ नहीं रहती। शरीर का मन पर कितना प्रभाव होता है इसका तत्त्व शरीर-शास्त्री ही जानते हैं। अतः हृदय की विशालता के लिए ब्रह्मचर्य्य तथा पाचन-शक्ति को याद किया

गया है। चरक महाराजने लिखा है कि—"त्रयोऽवष्टम्भाः शरीरस्य आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्य्यम्।" जिस मनुष्य का आहार-पाचन ठीक नहीं रहता उसका ब्रह्मचर्य स्थिर नहीं रह सकता। इसी प्रकार जो ब्रह्मचर्य-नाश द्वारा अपनी जनन-शक्ति को नष्ट करता है उस की पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है।

जनन-शक्ति से तात्पर्य केवल स्थूल जनन-शक्ति से ही नहीं किन्तु मौलिक प्रतिमा (Creative Genius) से भी है। ब्रह्मचर्य की रक्षा उसकी वृद्धि का भी कारण है। इसलिए पाचन-शक्ति का ठीक रखना कितना आवश्यक है यह सहज में समझा जा सकता है। पाचन बिगड़ा कि मनुष्य का स्वभाव चिड़चिड़ा हुआ और हृदय की विशालता में कमी आने लगी। इसके विपरीत जो ब्रह्मचर्य की रक्षा करता है, तथा पाचन-शक्ति को ठीक रखता है। उसका स्वभाव दूषित होतो भी शनैःशनैः सुधरने लगता है और वह एक हंसमुख मनुष्य बन जाता है। इसलियें कहा—

ओं जनः पुनातु नाभ्याम्।

'परम जनक मेरी नाभि को पवित्र करें।' अब प्रश्न उठता है कि नाभि अर्थात् पाचन-शक्ति कैसे ठीक रह सकती है ? इसके उत्तर में कहते हैं—

ओं तपः पुनातु पादयोः

'यह सबसे बड़ा तपस्वी जो दिन रात अनादि काल से कर्म्मशील है, मेरे पैरों को पवित्र करे।' पैरों का तप नाभि को

ठीक रखता है। इस प्रकार शारीरिक व्यायाम, विशेष कर पैरों का व्यायाम, कितना महत्त्व रखता है यह इससे समझा जा सकता है कि एक विशाल भवन की आधार शिला यद्यपि बहुत निचला स्थान पाती है परन्तु उसके निकालते ही सारी भित्ति जर्जर और दोलायमान हो जाती है। इसी लिये हमें धर्म के किसी अङ्ग को भी तुच्छ न समझना चाहिए। जो मनुष्य पैरों से ठीक कर्म करता है उसकी पाचन शक्ति ठीक रहती है। और वह नई रचना करने में समर्थ होता है जिससे उसे इतना आह्लाद प्राप्त होता है कि उसका हृदय विशाल हो जाता है। उस से उसकी वाणी मधुर होती है। इससे उसे सत्सङ्ग की प्राप्ति होती है, जिससे ज्ञान-वृद्धि होती है और समस्त ज्ञान की जन्म-भूमि अर्थात् उसका सिर दिनों-दिन पवित्र होता जाता है। इस प्रकार प्राप्त ज्ञान का प्रकाश केवल मधुर न हो किन्तु सत्य भी हो। इसलिये कहते हैं—

ओं सत्यम्पुनातु पुनः शिरसि।

इन सब गुणों के पृथक् पृथक् अभ्यास के पीछे मनुष्य को जो एक सर्वाङ्ग-सम्पन्न महाशक्ति की भावना होती है उस के ध्यान के लिए कहा—

ओं खम्ब्रह्म पुनातु सर्व्वत्र।

वह सर्व्वव्यापक परमात्मा मुझे सर्व्वत्र पवित्र करें।

अथ प्राणायामः

ओ३म् भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः।
ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्।

अर्थ—इन भूः आदि व्याहृतियों के अर्थ 'ओं भूः पुनातु शिरसि' आदि मन्त्रों के अर्थों में आ चुके हैं।

प्राणायाम के मन्त्र और कुछ नहीं मार्जन-मन्त्रों का संक्षेप मात्र है। उनमें उन्हीं भावों की फिर आवृत्ति करनी है जो ऊपर कहे जा चुके हैं। किन्तु चित्त की एकाग्रता के लिये शब्द छोटे कर दिये गये हैं। अन्त को हमें एक दिन इस अवस्था तक पहुँचना है कि एक 'ओंकार' के उच्चारण मात्र से वह समस्त भावनाएँ जागृत हो उठें जो हम इतने मन्त्रकलाप से जगाना चाहते हैं। परन्तु वह कोटि निरन्तर अभ्यास से प्राप्त होती है। इसीलिए प्राणायाम में मार्जन-मन्त्रों का आरम्भ-वाक्य ही ले लिया गया है और उसी में उसका मर्म्म छिपा है। जो हम ऊपर दिखा चुके हैं।

अब प्रश्न उठता है कि प्राणायाम से विशेषता क्या उत्पन्न होती है। इसके लिए उपनिषत्कार ने स्पष्टही बताया है कि जिधर प्राण जाता है सब इन्द्रियों को वहां एक साथ ही जाना पड़ता है इसीलिए जब मनुष्य किसी गहरे विचार में मग्न होता है तो उसकी श्वासप्रश्वास-क्रिया भी निरुद्धकल्प हो जाती है। इसीलिए इस प्रकार के ध्यान को अंग्रेजी भाषा में निरुद्धश्वास ध्यान

(Breathless Attention) पुकारा जाता है। प्राणायाम में केवल इतना भेद है कि यहां प्रक्रिया उलटी करदी गई है। ध्यान से प्राणनिरोध होने के स्थान में प्राणनिरोध द्वारा एकाग्रता की सामग्री उपस्थित कर दी गई है। यह एक साधारण-सा परीक्षण है कि जब कभी काम, क्रोधादि का कोई वेग मन को प्रबलता से एक ओर खींचता हो उस समय प्राण को रोकने से एक बार तो अवश्य ही मन वश में आ जाता है। फिर हम उस वशीकार को स्थिर कहां तक रखते हैं यह दूसरी बात है । यह परीक्षण लेखक ने स्वयं अपने जीवन में अनेक बार किया है।

परन्तु प्राणायाम को कोई अपने कर्तव्य की समाप्ति न समझे। प्राणायाम तो केवल वह अवस्था उत्पन्न कर देता है। जिसमें मन को जो आज्ञा दी जाय वह जड़ पकड़ लेती है। परन्तु यदि कोई सङ्कल्पहीन मनुष्य प्राणायाम करते समय अपने मन को कोई आज्ञा नहीं देता तो वह ऐसा ही है जैसे कोई सेनापति बारम्बार बिगुल बजा कर अपने सैनिकों को इकट्ठा करले किन्तु जब वे हाथ बांध कर पूंछे कि प्रभो ! क्या आज्ञा होती है तो कह दे, मैंने तो यों ही मनोविनोद के लिए बुलाया था। इस प्रकार के प्राणायाम से रुधिर की शुद्धि होकर कुछ शारीरिक लाभ भले ही हो जाय परन्तु आध्यात्मिक लाभ तो कुछ नहीं हो सकता। इसीलिए यहाँ 'भूः भुवः' आदि अनेक गुणवाची शब्दों से प्रभु को याद किया है। और वह गुण शरीर के जिस अङ्ग में पाया जाता है वहाँ ही उस गुण का भाजन

स्थान बनाया है। यहाँ ही 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' इस लक्षण के अनुसार योग का धारणा-नामक अङ्ग पूरा होता है।

यहां धारणा के सम्बन्ध में कुछ बातों का स्पष्ट कर देना अप्रासङ्गिक न होगा। यह योग का वह अङ्ग है जिसको लेकर मूर्तिपूजक प्रायः आर्यसमाज पर आक्षेप किया करते हैं। इसलिए इसका मूर्तिपूजा से भेद स्पष्ट कर देना होगा। जिस प्रकार काम-वासना से उपस्थेन्द्रिय में उत्तेजना होती है इसी प्रकार ईश्वरा-राधन से भी मनुष्य के विशेष, अङ्गों में विशेष गति होती है। ईश्वराराधन से ही क्यों. वीर-रस का काव्य सुनने से भी रोमा-ञ्चादि का प्रादुर्भाव होता है। अब बात यह है कि इसका उलटा भी होता है। जिस प्रकार काम से उपस्थेन्द्रिय में उत्तेजना होती है इसी प्रकार उपस्थेन्द्रिय को उत्तेजना देने से काम उत्पन्न होता है। ठीक इसी प्रकार शरीरमें कई ऐसे मर्म स्थान हैं जहां प्राण-शक्ति एकाग्र करने से मनुष्य की ईश्वराराधनमें तल्लीनताको बड़ी सहायता मिलती है। इस प्रकार धारणा का ईश्वर से वा उसके स्वरूप से कुछ सम्बन्ध नहीं। वह तो आध्यात्मिक रस को अनुभव कराने वाले अंग विशेषों से सम्बन्ध रखती है। अर्थात् इसमें ध्यान-साधन इन्द्रिय-विशेष में प्राणशक्ति का सञ्चार होता है। दूसरी ओर मूर्तिपूजा में ध्येय विषयक मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है। एक दृष्टाँत से यह बात स्पष्ट हो जायगी। धारणा ऐसे हैं जैसे पेट का व्यायाम करके पाचन-शक्ति को तीव्र करना, उसका भोजन से कुछ सम्बन्ध नहीं। दूसरी ओर मूर्तिपूजा ऐसे

है जैसे रेत में खाँड की भावना करके उसे फांकना । भ्रूमध्य मेरुदण्डादि में ध्यान का यही तात्पर्य है। यह आधार सप्तमी है विषय सप्तमी नहीं। अर्थात् जैसे कोई कहे कि ईश्वर का ध्यान एकान्त में, गुफा में करना चाहिये। यहां भ्रू मध्य 'में' प्राणशक्ति को एकाग्र करके ध्यान ईश्वर का ही करना है दूसरी ओर मूर्ति-पूजा में मूर्ति का ध्यान करना है।

इसी प्रकार एक और सूत्र है जो भ्रम उत्पन्न करता है। उसका भी यहां वर्णन कर देना उचित होगा। वह सूत्र है 'चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोग:।' इस सूत्र के समझने में भूल यह होती है कि इस सूत्र का ईश्वराराधन से कुछ सम्बन्ध नहीं, पर समझ लिया जाता है। एकाग्रता का अभ्यास और ईश्वर में एकाग्रता का अभ्यास, दो बिल्कुल भिन्न वस्तुएँ हैं। चांदमारी करने वाले भी एकाग्रता का अभ्यास करते हैं। लोहार अपनी हथौड़ी लेकर और चित्रकार अपनी तूलिका (Brush) लेकर भी एकाग्रता का अभ्यास करता है। परन्तु वह यह दावा नहीं करता कि मैं ईश्वर की आराधना कर रहा हूँ। जिस मनुष्य का चित्त विक्षिप्त रहता है वह किसी प्रकार भी एकाग्रता का अभ्यास करे, परन्तु जब ईश्वराराधन में प्रवृत्त हो तब ईश्वर में ही चित्तको एकाग्र करना चाहिए। मूर्तिपूजक केवल चांदमारी नहीं कर रहा होता, वह ईश्वर में चित्त एकाग्र करने का दावा करता है। मूर्तिपूजा के पक्षपाती कहते हैं कि वे चित्त की एकाग्रता का अभ्यास कर रहे हैं और कररहे होते हैं मूर्ति में ईश्वरके अभ्यास

का अभ्यास इस अविद्याके अभ्यास का फल यही होता है कि-

'अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते' ।

धारणा के सम्बन्ध में इतना तो लेखक का स्वानुभव है कि प्राणायाम में ठीक उससे उलटी क्रिया होती है जैसी कि गर्भाधान में वीर्य-विसर्जन-काल में होती है । उस समय बुद्धि में एक निर्मलता आने लगती है, रोमाञ्च होने लगता है । मनुष्य अनुभव करता है कि मानों वह किसी शक्ति को ब्रह्मकुण्ड (सिर) में चढ़ा रहा है । इससे 'ऊर्ध्वरेता' शब्द के अर्थ का कुछ कुछ आभास होने लगता है । इसका विशेष विस्तार योगदर्शन में देखना चाहिये ।

प्राणायाम करने वालोंको निम्न बातें स्मरण रखनी चाहियें-

१. जब तक पेट की मल-शुद्धि ठीक न होले प्राणायाम न करना चाहिये ।

२. प्राणायाम इतना धीरे-धीरे करना चाहिये कि प्राण के आकर्षण तथा विसर्जन की आवाज़ अपने कान को भी न सुनाई दे ।

३. प्राण को बाहर और भीतर इतना ही रोकना चाहिए कि जितना सुख से रोक सके । अपने ऊपर अत्याचार न करना चाहिये । अभ्यास शनैः-शनैः बढ़ाना चाहिये,

४. भोजन करके तुरन्त ही प्राणायाम कभी न करना चाहिये ।

अथाघमर्षणम्

ओ३म् । ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत । ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः । समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

अर्थ—(विश्वस्य) सम्पूर्ण (मिषतः) निमेषोन्मेष अर्थात् हरकत करने वालों के (वशी) वश में करने वाले उस परमेश्वर ने (अहोरात्राणि) दिन रात को (विदधत्) बनाया (धाता) उसी परमेश्वर ने (यथापूर्वम्) पूर्व सृष्टि की तरह (सूर्यचन्द्रमसौ) सूर्य और चांद को (अकल्पयत्) बनाया (दिवं च) द्यौ को भी (पृथिवीं च) पृथिवी को भी (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी (अथो) और (स्वः) स्वः को भी । उसी परमेश्वर के (अभीद्धात्) देदीप्यमान (तपसः) प्रताप से (ऋतं च) यथार्थ ज्ञान वेद (सत्यं च) और त्रिगुणात्मक प्रकृति (अध्यजायत) कार्यरूप में पहले की तरह उत्पन्न हुए (ततः) उससे ही (रात्री) प्रलयावस्था (अजायत) उत्पन्न हुई (ततः) उस से ही (समुद्रः) जल का समुद्र और मेघ (अर्णवः) लहरों वाला उत्पन्न हुआ (अर्णवात्) लहर युक्त (समुद्रात्) समुद्र से (अधि) पीछे (संवत्सरः) दिन, मास, वर्षादि व्यवहार (अजायत) उत्पन्न हुआ ।

सन्ध्या के आत्मपरीक्षण सम्बन्धी भाग की यह अन्तिम कड़ी है। मनुष्य आत्मपरीक्षण से बड़े घबराते हैं। सच तो यह है कि वे अपना असली चित्र देखना नहीं चाहते। इसलिये जब किसी से कोई अपराध हो जाता है तो वह मित्र-मण्डली में बैठ कर हँसी-खेल में, विनोद में, मादक द्रव्यों की उपासना में—जैसे भी हो—अपने आपको भुलावा देकर उस महाशक्ति की मार से बचना चाहता है जिसके लिये वेद ने कहा है—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥

यजु० १६—७

'अर्थात् प्रभु ने सत्य में श्रद्धा और असत्य में अश्रद्धा सब मनुष्यों के हृदय में स्थापना की है।' किन्तु इस मार से मनुष्य बचना चाहता है। मार है भी कड़ी। संसार से भाग कर मनुष्य छिप जाय पर अपने आप से भाग कर कहाँ छिपे? वेद कहता है कि सीधा रास्ता यह है छिपने का यत्न ही मत करो। अपनी कर्म्मपत्री की आँख खोलकर; ढूंढ-ढूढ कर, निरीक्षण करो, जहाँ जहाँ तुमने भूल की है उसे सुधारो। यदि तुम इस आवाज़ को दबाओगे तो वह किसी दिन भयङ्कर दुःख और दैवी दुर्घटना का रूप धारण करके तुम्हारे सामने खड़ी होगी। हाँ, जिस भय से मनुष्य अपने कर्मों की पड़ताल नहीं करना चाहते उन पापों की चोट को सहन करने का उपाय वेद ने किया है। उसी का नाम है अघमर्षण—पाप का सहना (मृषतितिक्षा-

याम्) पाप की चोट दो प्रकार से होती है। एक 'अभिमान' से दूसरी 'अवसाद' से। जब मनुष्य अपने कर्मों के भयङ्कर चित्र को देखता है तो उसके हृदय में जो निरुत्साहता होती है उसी का नाम अवसाद है। उसका वर्णन ऊपर हो चुका है। दूसरी ओर जब मनुष्य यह समझता है कि मेरे पास अपार ऐश्वर्य है, परमेश्वर मेरा क्या बिगाड़ सकता है, तब अभिमान जन्य पाप उसे आ दबाता है। इन दोनों में से कौनसी चोट कठिन-तर है यह कहना सुगम नहीं। परन्तु वेद ने दोनों का उपाय एक ही मन्त्र में जिस सुन्दरता से बताया है वह अति विलक्षण है। वेद ने अवसाद को हटाने के लिये सृष्टि और अभिमान को दूर करने के लिये प्रलय का चक्र उसके सामने रख दिया है। यदि मनुष्य को अवसाद दबा रहा है तो वह बिचारे कि जिसके सामर्थ्य से अव्यक्ततम अवस्था से पहुँचा हुआ यह सारा ब्रह्माण्ड फिर बन जाता है, उसकी आज्ञा में चलने से अपने आचरण द्वारा उसका सच्चा विश्वासी बनने से क्या मेरा बिगड़ा जीवन फिर न सुधर सकेगा ? अवश्य सुधरेगा। इसके विपरीत जब उसे अभिमान का मद चढ़ने लगे तब वह विचारे कि जिसके सामर्थ्य से यह विशाल विश्व क्षण-भर में बुलबुले की तरह लीन हो जाता है उस विश्वपति के आगे मुझ नरकीट की क्या गणना है। इसलिये यहाँ मन्त्र में सृष्टि प्रलय का, दिन रात का, सूर्य और चन्द्र का, चक्र चलता हुआ दिखाया गया है।

इन मन्त्रों में 'विश्वस्य मिषतः' का अर्थ इस प्रकार भी किया

जा सकता है कि उस लीलामय का स्वभाव ही है कर्मानुसार फल देने के लिये सृष्टि रचना। सूर्य्य चन्द्रादि तो सब उस लीला का एक निमेष मात्र हैं। इस प्रकार अर्थ करने में 'मिषतः' यह 'मिष' शब्द की पञ्चमी है। हमने जो ऊपर अर्थ दिया है वह 'मिष' धातु के 'शत्रन्त' प्रयोग की षष्ठी है। दोनों अर्थ सङ्गत हैं चाहे जैसे भी समझ लें। मन्त्र के मुख्य उद्देश्य—अघमर्षण—में उससे कुछ भेद नहीं आता।

अथ मनसापरिक्रमा

आत्म परीक्षण हो लिया। मार्जन हो लिया। प्रसङ्गागत परिताप की वेदना का मर्षण भी हो लिया। अब हृदय फिर महासङ्कल्पों की आवृत्ति के लिए तय्यार है। इसलिये सबसे पहले अहिंसा के संकल्प को स्मरण करते हैं। इसी सङ्कल्प को महर्षि पतञ्जलि ने "देशकालजात्यनवच्छिन्ना सार्व्वभौमं महाव्रतम्" कहा है। इसी को भाष्यकार व्यास ने "सा च सर्व्वभूतोपकारार्थम्प्रवृत्ता मूलञ्च सर्व्वधर्म्माणां" बताया है। अर्थात् यह अहिंसा सार्वभौम (Universal) महाव्रत है, यह सब धर्मों का मूल है।

हिंसा के दो मूल हैं एक स्वार्थ, दूसरा विद्वेष। दोनों का ही इसमें वर्णन है। जो हम से द्वेष करते हैं इसलिये हमारी प्रतिहिंसा के पात्र हैं और जिनसे हम स्वार्थवश द्वेष करते हैं। आओ थोड़ी देर के लिये हम स्वयं उनके भाग्य-विधाता न बनें।

उन्हें आपके न्याय की दाढ़ में अर्पण कर दें। प्रश्न उठता है 'आपकी' किनकी ? इसके उत्तर में परमेश्वर और उसके गुण का वर्णन है। परन्तु इन गुणों को वेद ने अलङ्कार में वर्णन किया है। सामने, पीछे दाएं, बाएं, नीचे-ऊपर, चारों ओर उस प्रभु से घिरा होकर मनुष्य न्याय करे। यदि फिर भी उसकी दृष्टि में कोई दण्डनीय है तो कम से कम उसने अपने कर्त्तव्य का पालन किया। इनमें से प्रत्येक दिशा मनुष्य की जीवन-यात्रा की एक दिशा है। उस दिशा में यात्रा करते हुए प्रभु का जो सबसे बड़ा गुण स्मरण करना उचित है उसे उस दिशा का 'अधिपति' कहा गया है। उस गुण के सहायक मुख्य गुण को 'रक्षिता' कहा गया है। संसार में जिस प्रकार के मनुष्य वा जिन पदार्थों से वह सीखा जा सकता है उनको 'इषु' (बाणवत् सीधे से सीधे मार्ग से इच्छा पूर्ति का साधन) कहा गया है। उन 'अधिपति' और 'रक्षिताओं' को अर्थात् परमात्मा के उन गुणों तथा इच्छा पूर्ति करने वाले तद्गुण युक्त पुरुषों को नमस्कार करके मैं अहिंसा व्रत धारण करता हूँ। जो हमसे द्वेष करते हैं, जिन्हें हम द्वेष करते हैं, उन्हें उनके न्याय के अर्पण करता हूँ अर्थात् उस प्रभु के न्याय के अर्पण करता हूँ। इस प्रकार मन में चारों ओर उस परमेश्वर के उन गुणों का ध्यान 'मनसा परिक्रमा' है। इसलिये यह प्राची, दक्षिणादि दिशा बाह्य जगत् में न ढूंढ कर अन्दर ढूंढनी चाहिए। इसलिये ऋषि लिखते हैं—'यत्र स्वस्य मुखं सा प्राची'। जो बाह्य दृष्टि

से प्राची है वह 'मनसा परिक्रमा' की प्राची नहीं है किन्तु जिस ओर अपना मुख हो वह प्राची है। इन 'परिक्रमा' मन्त्रों के साथ 'मनसा' का शब्द बढ़ा कर ऋषि ने जिस मर्मग्राही पांडित्य का प्रकाश किया है उसके आगे बारम्बार श्रद्धा से सिर झुक जाता है।

अब प्रत्येक मन्त्र को क्रमशः लीजिये।

अथ प्राचीदिक्

ओ३म्। प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥१॥

अर्थ—(दिक्) मेरी दिशा (प्राची) आगे बढ़ने की है (अग्निः) अग्रणी भगवान् (अधिपतिः) इसमें अधिपति हैं (असितः) बन्धन काटने वाला उनका गुण (रक्षिता) रक्षा करने वाला हैं (आदित्याः) आदित्य विद्वान् (इषवः) बाण की तरह इच्छा पूर्ति करने वाले सहायक हैं (तेभ्यः) उस (अधिपतिभ्यः) अधिपति को (नमः) नमस्कार (रक्षितृभ्यः) रक्षक को (नमः) नमस्कार (इषुभ्यः) इच्छा पूर्ति करने वाले बाणरूप आदित्यों को (नमः) नमस्कार [एभ्यः] इन सब को [नमः] नमस्कार [अस्तु] होवे [यः] जो [अस्मान्] हमको [द्वेष्टि] द्वेष करता है [यं] जिसको [वयं] हम

[द्विष्मः] द्वेष करते हैं [तं] उसे [वः] आपके [जम्भे] न्याय रूप दाढ़ में [दध्मः] रखते हैं।

मनुष्य के लिए भक्ति-मार्ग में चलते हुए सबसे पहली दिशा कौनसी है इसका उत्तर प्राची शब्द से मिलेगा। यह शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। एक 'प्र' दूसरा 'अञ्च'। 'प्र' उपसर्ग है, 'अञ्च' धातु है। 'प्र' के अर्थ शब्द-कल्पद्रुममें इस प्रकार दिए गए हैं—"१ आरम्भे, २ गतौ, ३ उत्कर्षे, ४ प्राथम्ये, ५ सर्व्वतोभावे, ६ उत्पत्तौ, ७ ख्यातौ, ८ व्यवहारे। वाचस्पत्य बृहदभिधान में गणरत्न टीका का उद्धरण देकर इसके अर्थ निम्न दिए गए हैं—'आदिकर्म्मदीर्घेशसम्भ वतृप्तिवियोग-शक्तीच्छाशान्तिपूजाग्रदर्शनेषु। इनमें से 'उत्कर्ष' और 'अग्र' यह दो इस प्रकरण में सङ्गत हैं। "या अग्रेउत्कर्षाय वा अञ्चति सा प्राची" जो आगे अर्थात् उन्नति की ओर जावे वह प्राची है।

अहिंसा व्रत का धारण करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य पहले शक्ति सञ्चय करे। जिसमें हिंसा करने की शक्ति ही नहीं उसे अहिंसक कैसे कहें ? वह तो एक लाश है। यही नहीं अहिंसा शब्द 'अमित्र' शब्द की तरह 'पर्य्युदास' है 'प्रसज्य प्रतिषेध' नहीं। इसका अर्थ हिंसा न करना मात्र नहीं किन्तु उपकार करना है। एक मनुष्य अफ़ीम खाकर नशे में पड़ा है अथवा जङ्गल में भाग कर एकान्तवास में जीवन बिताता है। उसके जीवन में हिंसा का अभाव है किन्तु 'अहिंसा' नहीं। क्योंकि वह तो "सर्व्वभूतोपकारार्थ प्रवृत्ता," प्राणिमात्र के उपकार

के लिये प्रवृत्त हुई है। इस जङ्गल में भागने के जीवन में लोकोपकार तो कुछ भी नहीं भागने वाले मध्यकालीन वैरागियों ने तो हिंसा की हिंसा के साथ अहिंसा की भी हिंसा कर दी।

वैदिक धर्म में भक्ति-मार्ग का आरम्भ वीर रस से होता है। उसमें 'श्मशान वैराग्य' का स्थान बहुत थोड़ा है। केवल इतना कि वह मनुष्यों को विषय-वासना से छुड़ा दे इसीलिए भगवान् पतञ्जलि ने इसे निर्व्वेद कहकर छोटा दर्जा दिया है। सच्चा वैराग्य तो वस्तुतः एक तीव्रतर अनुराग है। वैदिक धर्म तो कहता है—"उद्यानं ते पुरुष नावयानम्" "उपेहि श्रेयांसमतिसमङ्क्राम" "कृतम्मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।" इसीलिये परिक्रमा मन्त्रों में मानों कोई योद्धा को सम्बोधन करके कह रहा है—उठ! तेरे लिये सबसे मुख्य दिशा एक है। वह कौनसी? प्राचीदिक्!

वैदिक भक्ति मार्ग की सबसे बड़ी सुन्दरता यही है कि वह पुरुषार्थ से आरम्भ होता है। केवल भारत में ही नहीं प्रायः अन्य देशों में भी भक्ति पुरुषार्थ का नाश करती रही है। भक्ति का स्वरूप होना तो यह चाहिए कि निरन्तर भजन द्वारा पुरुष प्रभु की अन्तर्यामिता का, उसके जातवेदाः होने का, जीवित अनुभव होने के कारण और अधिक वेग से पुरुषार्थ करे और उलटा विरोधी शक्तियों से भी न दबे, किन्तु होता उलटा ही है। भक्त लोग भक्ति का बदला पुरुषार्थ में काटने लगते हैं। वे समझने लगते हैं कि यदि भक्ति करने पर पहिले

से भी अधिक पुरुषार्थ करना पड़ा तो फिर भक्ति का लाभ ही क्या हुआ। उस समय यह भक्ताभास लोग यह कहने लगते हैं कि हमारे भगवान् तो आशुतोष हैं, श्रद्धा-पूर्वक दो विल्वपत्र चढ़ाने मात्र से सन्तुष्ट होकर तार देते हैं। इस पर दूसरे भक्त इनसे भी बाजी लेते हैं। वे कहते हैं—

सांकेत्यम्पारिहास्यं वा स्तोभं जल्पनमेव वा।
मुरारिनामग्रहणं निश्शेषाघहरं विदुः॥

(श्री मद्भागवत)

अर्थात् इशारे से, हंसी-विनोद से ताना देने के लिए अथवा प्रलाप करते समय अचानक भी यदि मुरारि का नाम मुख से निकल जाय तो वह सम्पूर्ण पापों का हरण करने वाला है। यह भक्ति नहीं प्रमाद है, यह रस नहीं घोर हलाहल हैं। इससे नास्तिकता सहस्र गुणी अच्छी है। नास्तिक जितना पुरुषार्थ स्वयं करता है उतना तो करेगा। किन्तु यह भक्त तो हाथ पर हाथ धर कर बैठेंगे। न केवल स्वयं डूबेंगे किन्तु अपने पीछे चलने वाले सब लोगों का सर्वनाश करेंगे। सोमनाथ के मन्दिर पर यही भक्तलीला हुई थी। इस भक्ति से कोसों दूर रहे तो अच्छा। संसार का घोर से घोर दुराचारी इस प्रकार के भक्त से अच्छा क्योंकि वह स्वयं अपना अपयश कराता है। परन्तु इस प्रकार के भक्तभासों से भक्ति बदनाम होती है। लोग खल्लमखुल्ला दुराचार करते हैं और जब रोको तो भगवान् की

भक्त-वत्सलता की दुहाई देने लगते हैं, जिसका परिणाम होता है कि लोगों को भक्ति से ही घृणा हो जाती है। इसीलिये वैदिक भक्ति-मार्ग में सबसे पहली बात यहीं कही गई है—प्राची दिक्।

हमारे लिये प्रभु की आराधना के लिये सबसे पहली दिशा आगे बढ़ने की, उत्कर्ष की ओर जाने की दिशा है। इसलिये सबसे पहले हम परमात्मा को "अग्नि अधिपति" के नाम से याद करते हैं। वह अग्नि है। अग्नि का अर्थ निरुक्त में यास्काचार्य्य ने दिया है "अग्रणी, आगे ले जाने वाला, प्रकाश और शक्ति का पुञ्ज।" भौतिक अग्नि को भी अग्नि इसी लिये कहते हैं क्योंकि उसमें प्रकाश और ताप दोनों गुण विद्यमान हैं। यही दोनों गुण आगे बढ़ने की सामग्री हैं। जिसमें गर्मी नहीं रही वह आगे नहीं बढ़ सकता। वह ठण्डा हो गया। जो अन्धकार में है वह शक्ति रहते हुए भी ठोकर खा कर गिर पड़ता है। इसीलिये कहा कि हम आगे बढ़ें और अग्नि अधिपति को सदा स्मरण रक्खें। शारीरिक शक्ति में आगे बढ़ें, मानसिक शक्ति में आगे बढ़ें, सामाजिक शक्ति में आगे बढ़ें। याद रहे जब आगे न बढ़ेंगे तो अग्नि अधिपति को बदनाम करेंगे। इस प्रतीक्षामें न रहें कि "दुःख, कष्ट, अंधकार, और अत्याचार जब मेरे द्वार पर आ खड़े होंगे तब ही मैं उनसे लड़ूँगा।" नहीं, हम आगे बढ़ें, अग्रेसर (Aggressive) हों, आगे बढ़ें, आगे बढ़ें।

जिस प्रकार मट्टी में खट्टा, मीठा, कड़वा, रस होने पर भी

नींबू, गन्ना तथा नीम अपना अपना रस खींचते हैं, इसी प्रकार सच्चा भक्त प्रभु से सबसे पहले 'अग्नि-शक्ति' खींचता है। इस भक्ति-रस का मर्म कोई क्या कहे ? लोग ताप बुझाना चाहते हैं और यहां उल्टा अग्नि को बुला रहे हैं। सामवेद का आरम्भ ही अग्नि को बुलाने से होता है—' अग्न आयाहि वीतये।" ऋग्वेद में आरम्भ से ही अग्नि के गुण सुन-सुनकर भक्त अब उसके लिये अधीर हो उठा है। कहता है—'अग्न आयाहि वीतये।' जिस प्रकार जल और प्राणियों की मृत्यु का कारण बनता है परन्तु मछली उसमें ही जीती है, इसी प्रकार जिसमें लोग जल मरते हैं आग्नेय जीव उसमें ही अपना जीवन बिताते हैं। ऐसे आग्नेय जीव स्थूल सृष्टि में मिलते हैं अथवा नहीं यह तो कहना कठिन है परन्तु सच्चे भक्त इसी प्रकार के प्राणी हैं। उनका प्रभु अग्नि है—तेजः पुञ्ज है—और वे भी अग्नि हैं। जहाँ वे रहेंगे अन्धकार नहीं रह सकता, आलस्य और जड़ता नहीं रह सकती। वे 'अग्रणी' हैं। क्यों न हों ? क्या उनका अधिपति 'अग्नि' (अग्रणी) नहीं ?

प्रकाश आया, शक्ति प्रादुर्भूत हुई, आगे बढ़ना आरम्भ भी हुआ किन्तु विघ्न आ गये। उन्होंने हमें बांधकर खड़ा कर दिया। उस समय आवाज आती है— तेरे अधिपति को आज तक किसने बांधा है ?' उठ, बन्धनों को काट, सच्चा भक्त है तो परीक्षा दे। परमेश्वर तेरी सहायता करेंगे। पर अभी नहीं। अभी तो आगे बढ़, उसके गुणों को स्मरण रख, यही तेरी सब

से बड़ी सहायता है। इसीलिये कहा—'असितः (बन्धन रहितः) रक्षिता।'' तेरे सेनापति का रक्षक बन्धन काटता है। तू भी अपनी 'प्राची दिक्' की रक्षा के लिये, आगे बढ़ने की रक्षा के लिये, बन्धन काट। सबसे बड़े बन्धन संसार में कौन से हैं? विषय। विषय शब्द का अर्थ ही है—"विशेषेण सिनन्ति बध्नन्तीति विषयाः"—जो कसकर बाँधें। उठ आगे बढ़ विषयों के बन्धन काट।

यह कामना मेरी कौन पूरी करेंगे? 'आदित्याः' अध्यात्म क्षेत्र में प्राण और बाह्य जगत् में आदित्य, ब्रह्मचारी। मैं उठूं और इनकी सङ्गति में बैठकर आगे बढ़ना सीखूं और विषयों से लड़ना सीखूं। भक्त-सेना के अग्रणी हे अधिपति! तुझे नमस्कार तेरी विषयोच्छेदिनी शक्ति को नमस्कार, इस संसार के प्राण-भूत तेरी ज्योति से जाज्वल्यमान तेरे सच्चे भक्त आदित्य ब्रह्मचारियों को नमस्कार। तू जब संसार में स्थूल अन्धकार के बंधन काटता है तब 'सूर्य्य' तेरे 'इषुः' (इच्छा पूर्ण करने वाले) बनते हैं। अध्यात्म क्षेत्र में मनुष्य जब अपने विषयों के बन्धन काटता चाहता है तो प्राणायाम द्वारा 'प्राण' बन्धन काटने वाले 'इषुः' बनते हैं और मानव जगत् में घोर अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले आदित्य, सच्चे विद्वान् लोग, हमारी कामना को पूरी करते हैं।

प्रश्न उठता है कि यहां 'नमः' किन इषुओं' को किया गया है? उत्तर मिलता है कि यह मनसापरिक्रमा मन्त्र है, इसलिये

मन का अन्धकार दूर करने वाले विद्वान् लोगों को न कि जड़ सूर्य्य को। सूर्य्य तो केवल यहाँ व्यञ्जना द्वारा एक चमत्कार मात्र उत्पन्न करता है।

इस प्रकार सार यह हुआ—भक्त कहता है, 'मेरे सामने सब से पहली दिशा आगे बढ़ने की दिशा है । भगवान् अग्नि हैं। वह इस दिशा में बढ़ने वाले सैनिकों के अधिपति हैं । उनका बन्धन काटने वाला गुण ही मुझे इस मार्ग में सहायक होगा। जिन्होंने आगे बढ़ना सीखा तथा बन्धनों पर विजय पाई वे आदित्य विद्वान् लोग ही मेरे इस मार्ग में सहायक हैं वही मेरे भी बन्धन काटने में सहायक होंगे। उन सबको मेरा नमस्कार है। अधिपति को नमस्कार, रक्षिता को नमस्कार, अन्धकार के विदारण में समर्थ इषु-भूत आदित्य ब्रह्मचारियों को नमस्कार हो, सबको नमस्कार हो । जो हम से द्वेष करता है जिससे हम द्वेष करते हैं उसे तुम्हारे न्याय पर छोड़ते हैं । इस प्रकार स्वार्थ और द्वेष से पैदा हुई हिंसा से लड़ने का सबसे प्रथम पाठ मैं पढ़ता हूँ।"

अथ दक्षिणा दिक्

ओ३म् । दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

अर्थ—(दक्षिणा) ऐश्वर्य की (दिक्) दिशा है (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् भगवान् (अधिपतिः) अधिपतिहैं जो (तिरश्चिराजी) कुटिल चाल से (रक्षिता) बचाने वाले हैं (पितरः) वृद्ध विद्वान् (इषवः) इस प्रयोजन में इच्छापूर्ति करने वाले बाण रूप हैं। आगे पूर्ववत्।

अब दूसरा पाठ आरम्भ होता है। जब मनुष्य पुरुषार्थ करता है, आगे बढ़ने का यत्न करता है तो उसका पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं होता। सूक्ष्म से सूक्ष्म पुरुषार्थ का भी सूक्ष्म ही सही पर फल मिलना अवश्य है। यही प्रश्न अर्जुन ने कृष्ण से किया था—

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तु मर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्तानह्यु-पपद्यते ॥

"हे कृष्ण, कर्म मार्ग पर चलते हुए जो मार्ग में गिर पड़े क्या उसका सारा किया निष्फल जायगा ? आप ही यह मेरा संशय दूर कीजिये। आप से भिन्न इस संशय को दूर करने वाला कोई जंचता नहीं।" कृष्ण कहते हैं—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥

"अर्जुन ! न उसका किया इस लोक में व्यर्थ होता है, न परलोक में। कल्याण कर्म करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।"

इसीलिये जैसे जैसे मनुष्य पुरुषार्थ करता है उसके ऐश्वर्य की वृद्धि होने लगती है । वह 'इन्द्र' होने लगता है । उसकी 'दक्षिण दिशा' बढ़ने लगती है । शतपथ में कहा है—'वीर्य्यं वै दक्षिणो बाहुः ।' संसार में भी जो जिसका सहायक होता है उसे उसका दाहिना हाथ (Right Hand) कहते हैं । जब 'दक्षिणा दिक्' अर्थात् पुरुषार्थ जन्य ऐश्वर्य बढ़ने लगे तब मनुष्य का कर्तव्य है कि वह सब से बड़े 'इन्द्र' परमैश्वर्यवान् विश्वपति, को स्मरण कर ले । इसका परिणाम यह होगा कि वह 'तिरश्चिराजी' (टेढ़ी रेखा) से बच जायगा । 'तिरश्चिराजी' का अर्थ ऋषि ने पञ्चमहायज्ञविधि में सांप, बिच्छू आदि किया है । परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह 'मनसा परिक्रमा' है इसमें केवल बाह्य सांप बिच्छू आदि का ही वर्णन नहीं, किन्तु मन में ईर्ष्या, कुटिलता, अभिमान के जो विषैले सांप, बिच्छू घूसते रहते हैं उनका भी वर्णन है । मनुष्य का स्वभाव है जब उसे ऐश्वर्य मिलता है तो वह टेढ़ा चलने लगता है । हिन्दी के सुकवि रहीम ने कहा है—

'प्यादे से फरजी भयो तिरछे तिरछे जात'

शतरंज का प्यादा जब वज़ीर बन जाता है तो टेढ़ा चलने लगता है । ऐसे समय में 'परमेन्द्र' का स्मरण ही उस के मद का उत्तम औषध है । कविवर रहीम के जीवन की एक घटना इस भावना को बहुत सुन्दर रूप से प्रकाशित करती है । रहीम नवाब थे । उनका नियम था, प्रतिदिन कुछ रुपये पैसे आदि

मिलाकर चारों ओर उनकी ढेरी लगा लेते और आंखें नीचे करके उसमें से याचकों को मुट्ठी भर कर देते जाते एक बार कविवर गङ्ग ने पूछा—

'ऐसी कहां नवाबज़ू सीखे देनी दैन
ज्यों ज्यों कर ऊँचे चढ़े त्यों त्यों नीचे नैन।

रहीम ने उत्तर दिया—

देने वाला और है जो देता दिन रैन
दुनियां मेरा नाम ले या विधि नीचे नैन।'

यही भावना 'दक्षिणादिक्' की भावना है। परन्तु इसका आस्वाद वही ले सकता है। जिसने पुरुषार्थ करके ऐश्वर्य कमाया है। आकाश की भांति ईश्वर के ऐश्वर्यका विस्तार भी जो जितना सिर ऊँचा उठाये उसे उतना और अधिक दीखता है। दिगन्त की भांति ज्यों ज्यों आगे बढ़ो उस प्रभु का अन्त नहीं मिलता। इसलिये आगे बढ़ो पर इसे न भूल जाना कि तुम कितने भी बड़े बन जाओ प्रभु तुम से बड़ा है।

परन्तु जो आगे ही नहीं बढ़ा वह उसके बड़प्पन को क्या समझे? भक्त की शोभा इसमें ही है कि पूर्ण पुरुषार्थ से तो ऐश्वर्य प्राप्त करे और फिर भी याद रक्खे कि अन्त को है ऐश्वर्य 'उसी' का। उसी की वस्तु उसकी प्रजा को देता हूँ, इसमें मेरा क्या? जिस सिर में उभरने की शक्ति ही नहीं उसका झुकना क्या? अब प्रश्न यह है कि यह भावना संसार

में किससे सीखें ? उसका उत्तर है--'पितरः इषवः'—पितर अर्थात् ज्ञानी लोगों से । अब प्रश्न उठ सकता है कि 'आदित्य' भी विद्वान् लोग और 'पितर' भी ज्ञानी लोग, फिर इनमें भेद क्या हुआ ? इसका तत्त्व शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। शतपथ में लिखा है कि "यू एवापूर्य्यतेऽर्धमासः सदवोः, य एवापक्षीयते स पितरः, अहर्वै देवाः, रात्रिः पितरः, पूर्वाह्णो देवाः, अपराह्णः पितरः ।" अर्थात् जो वयोवृद्ध लोग संसार का अनुभव पाकर ज्ञानी हुए हैं, जिन्होंने यौवन के पीछे जरा देख ली है, वही विनय का उपदेश अच्छा दे सकते हैं।

भारतवर्ष के इतिहास पर दृष्टि डालते हुए कभी कभी इसका अनुभव प्रत्यक्ष सा होने लगता है। संसार की नवयुवक जातियों को मानो यह बूढ़ी जाति कह रही है कि "ऐ भोली जातियो ? हमने लाखों वर्ष समस्त धरती पर राज्य किया, परन्तु जब हमें ऐश्वर्य के मद ने घेरा, हमने ईश्वर की सत्ता को भुलाकर अन्याय-परायणता, पकड़ी और अपने भाइयों की पांच ग्राम तक की मांग पर ठोकर मार कर कहा— 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव' उस समय हमारा अधःपतन और सर्वनाश हो गया । आज हमारे ऐश्वर्य्य की कहानी पर कोई विश्वास भी नहीं करता । यदि तुम भी उस प्रभु से न डरोगे तो तुम्हारी न जाने क्या अवस्था होगी तुम्हारी कदाचित् कथा भी शेष न रहे।"

नवयौवन का मद उतारना वृद्धावस्था का भागधेय है अस्तु, जब मनुष्य को पुरुषार्थ से ऐश्वर्य्य प्राप्त हो तो अपने से बड़े इन्द्र का स्मरण करे और वृद्ध पुरुषों की सङ्गति में बैठकर विनय का पाठ सीखे।

इस प्रकार मन्त्र का भाव यह हुआ—"दक्षिण दिशा अर्थात् ऐश्वर्य्य काल में हम परमेन्द्र का स्मरण करें। उस मदापहारिणी शक्ति का जो कुटिल मार्ग में चलने से बचाती है स्मरण करें। वयोवृद्ध ज्ञानी लोगों की सङ्गति में बैठें। वे हमें ठीक मार्ग पर पहुँचाकर हमारी अभिलाषा पूरी करेंगे। उस प्रभु के ऐश्वर्य्य को नमस्कार, उसकी मदापहारिणी शक्ति को नमस्कार, विनय का उपदेश देने वाले वयोवृद्ध ज्ञानियों को नमस्कार, इन सब को नमस्कार हो। जो हमसे द्वेष करता है, जिससे हम द्वेष करते उन्हें तुम्हारे न्याय पर छोड़ते हैं।"

अथ प्रतीची दिक्

ओ३म्। प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षिताऽन्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥३॥

अर्थ—(प्रतीची) पीठ पीछे की (दिक्) दिशा है (वरुणः) अन्तर्यामी वरणीय अथवा वरणशील भगवान् (अधिपतिः)

अधिपति हैं जो (पृदाकू) छिपकर घात करने वालों से (रक्षिता) बचाने वाले हैं (अन्नं) अन्न अर्थात् न्यूनशक्ति वाले (इषवः) इस बात का उपदेश देने वाले साधनीभूत बाणरूप हैं । आगे पूर्ववत् ।

जिसने यह दो कोटि पार करली हैं, जो अपना पूर्ण पुरुषार्थ कर चुका और फिर भी अभिमान में नहीं भरा वह प्रभु का सच्चा भक्त है । वह उससे सहायता पाने का अधिकारी है। भगवान् भक्तवत्सल अवश्य हैं, वह भक्तों का परित्राण करते हैं इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, परन्तु भक्त कौन हैं यह भी तो जानना चाहिये । भक्त वह है जो अपना पूर्ण उद्योग करके अभिमान में नहीं भरता । ऐसे मनुष्यों को 'प्रतीची दिक्' से पीठ पीछे से, अर्थात् अज्ञातरूप से जो आक्रमण करते हैं उनसे बचाने वाला प्रभु है। यदि तुमने पुरुषार्थ में कोई न्यूनता नहीं रक्खी, अपनी और अपने आश्रितों की रक्षा का जितना उपाय तुम कर सकते थे कर चुके और फिर भी तुम अभिमान में नहीं भरे तो फिर अब निर्भय हो जाओ । 'प्रतीची' अर्थात् पीठ पीछे की दिशा का अधिपति वरुण है । वह छिपे से छिपे घात को भी पकड़ लेता है। उसके अनन्त गुप्तचर हैं। हर पदार्थ के पीछे छिपा वह तेरे घात को देख रहा है । छिपाने वाला उसमें छिप रहा है फिर उससे कैसे छिप सकता है ? बड़े से बड़े 'पृदाकु' अर्थात् छिप कर हिंसा करने वाले से वह तुम्हें बचाने वाला है। वरुण की महिमा वेद ने यों गाई है—

यस्तिष्ठति यश्च वंचति यो निलायं चरति यः प्रतंकम् ।
द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥
उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिव स्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अतिपश्यन्ति भूमिम् ॥
अथर्व० ४ का० १६ सू० २, ४ मं०

अब प्रश्न उठता है कि संसार में यह उपदेश हमें कहां से मिलता है ? उत्तर है 'अन्नमिषवः' अर्थात् अन्याय-पूर्वक घात करने वालों को उनका अन्याय किस प्रकार मार देता है इसका पाठ उससे मिल जायगा जो जिसका अन्न है । अर्थात् जो अपने अन्न को अन्याय से खाता है वह अन्याय-पूर्वक खाया हुआ अन्न उसको खा जाता है । वरुण का नियम ऐसा ही है, और वरुण से कौन छिप सकता है ? परन्तु यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि 'अन्न' शब्द का अर्थ केवल अनाज नहीं है, प्रजा राजा का अन्न है, सेवक स्वामी का अन्न है, यह विश्व विश्वपति का अन्न है। इसीलिये कहा गया है—"अत्ता चराचरग्रहणात् ।" तात्पर्य्य यह कि जो जिससे गुणों के कारण अधिकार में कम है वह उसका अन्न है । किन्तु उस अन्न का सदुपयोग पुष्टि का कारण होता है और अन्याय उपयोग अत्ता के विनाश का कारण होता है । इसलिये जो मनुष्य अपनी 'प्राचीदिक्' अर्थात् अपने पुरुषार्थ में पूरा है तथा 'दक्षिणा' अर्थात् ऐश्वर्य्य की दिशा में विनीत है, टेढ़ी चाल से बचा हुआ है, वह परमेश्वर के न्याय पर भरोसा करके निर्भय रहे । छिपे

आघात करने वाले वरुण से छिपे नहीं हैं। यदि किन्हीं कर्मों के कारण उन्हें तत्काल दण्ड न भी मिले तो भी अन्त में उन्हें उनका अन्न ही खा जायगा। उदाहरण के लिये डाकू जब डाका डालते हैं, पहिले तो कुछ काल मिले रहते हैं परन्तु पीछे से जब लूट का माल सञ्चित हो जाता है तो बंटवारे के समय जिस स्वार्थ भावना के वशीभूत होकर उन्होंने निरपराध लोगों का धन लूटा था वही उनके परस्पर कलह का कारण बनती है और इस प्रकार इसका समूल नाश कर देती है। जो राजा प्रजा के साथ अन्याय करता है उसे या तो प्रजा मार देती है और यदि कदाचित् वह प्रजा को मार दे तब भी उसका राजत्व नष्ट हो जाता है क्योंकि फिर वह राजा किसका रहा?

इस प्रकार सारे मन्त्र का आशय यों हुआ—पुरुषार्थपूर्वक प्राप्त ऐश्वर्य को पाकर भी यदि हम मद में न आएं तो हमें स्मरण रखना चाहिये कि विपत्ति में हमारा सबसे बड़ा सहायक है। प्रतीचीदिक् अर्थात् पीठ पीछे की दिशा में अन्तर्यामी वरुण हमारी पीठ पर है। वह हिंसक लोगों से हमारी रक्षा करने वाला है। 'अन्ततो गत्वा' अन्यायी का सर्वनाश होता है यह हम कभी न भूलें। अन्न इस बात का उपदेश देने वाले साधन हैं। उस अन्तर्यामी को नमस्कार, उसकी अन्याय विघातिनी शक्ति को नमस्कार, जिनको उसने हमारे अधिकार में सौंपा है जिनसे हम गुणों में अधिक हैं उन्हें भी नमस्कार,

इन सबको नमस्कार । जो हमसे द्वेष करे जिसे हम द्वेष करें वह सब प्रभु के न्याय के अर्पण हैं।

अथोदीची दिक्

ओ३म् । उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिता-ऽशनिरिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥४॥

अर्थ—(उदीची) निस्सहायावस्था में सहायता की प्राप्ति के लिये ऊपर को मुंह उठाने वाली (दिक्) दिशा है (सोमः) सोम-रूप भगवान् (अधिपतिः) अधिपति हैं जो कि (स्वजः) अपने में ही प्रादुर्भूत होकर (रक्षिता) रक्षा करने वाले हैं (अशनिः) विद्युत् अथवा भक्ति-विद्युत्-सम्पन्न पुरुष (इषवः) इस प्रयोजन की पूर्ति कराने वाले बाण रूप सहायक हैं। आगे पूर्ववत् ।

प्यासे चातक की नाईं भक्त ऊपर को चोंच उठाए तरसी हुई आंखों से कह रहा है—'एक बूँद बरसे ।' बाहर के शत्रुओं के आघात से नहीं किन्तु आन्तरिक निराशा और उदासीनता से तड़पता हुआ घायल चिल्लाकर कह रहा है—'कोई मरहम लगा जाय ।' उत्तर मिलता है सोमरस का पान कर, घाव भर जाएंगे, नई शक्ति का सञ्चार हो जायगा, तेरा कायाकल्प हो

जायगा, नवीन जीवन लहलहा उठेगा। घायल कहता है—बड़ी दूर की कहते हो, सोम तो सुना है कहीं पहाड़ों में पैदा होता है। उत्तर मिलता है—भोले ! इस व्याधि की औषध वह 'परमसोम' 'स्वजः'—तेरे अन्दर ही प्रादुर्भूत होने वाला—है। उसे कहीं ढूंढने नहीं जाना। न वह पैदा होता है; वह तो अजन्मा है। परन्तु थोड़े से यत्न से झाँकना सीख, वह तुझ में है अथवा तू उसमें है। ऐसे सोम को ढूंढने कहाँ जाना ? इसी सोम के विषय में उर्दू कवि ने कहा है—

दिल के आईने में तस्वीरे यार,
जब चाहा गर्दन झुकाई देखली।

पर यहाँ गर्दन भी तो झुकानी नहीं पड़ती। इतना याद कर ले कि वह तेरे पास है और वह तुझे मिल गया।

यह निस्सहायता की, यह आन्तरिक आघातों की, यह अवसाद की, दशा—जिसमें मनुष्य चातक की भाँति किसी परम-शक्ति का सहारा ढूँढता है, वह पुरुषार्थ करके थक गया है इसने कोई कसर नहीं उठा रखी फिर भी निराशा के बादल घेरे हुए हैं,—'उदीचीदिक्' है। इस अवस्था में अब वह अपने से ऊंची किसी शक्ति के लिए प्यासा है।

परन्तु हमें भूलना नहीं चाहिये कि जहां वह अग्नि है, तेजःपुञ्ज है, प्रकाश स्वरूप है, शुष्क है, वहां सोम भी है। सोम क्या है यह शतपथ ब्राह्मण में कहा है— यदेवश्शुष्कं तदाग्नेयं यदेवार्द्रं

तत्सोम्यं ।' वह परम शुष्क भी है, परम सरस भी, परमाग्नि भी है, परम सोम भी।

परन्तु इस अध्यात्म-प्रकरण में वह पर्वतों पर उगने वाली सोम की लता नहीं। जो ऐसा समझते हैं उनके विषय में वेद कहता है:—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिपन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्राह्मणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥

'भला इस भोले मनुष्य को तो देखो! पीसने वाले एक बूटी का रस निचोड़ कर ले आए और यह समझता है कि मैंने सोमरस पी लिया। ऐसा पार्थिव, ऐसा भोला आदमी उस परम सोमरस का आस्वादन कब करता है जिसका तत्त्व ब्रह्मवित् जानते हैं ?'

परन्तु एक दशा है जब साधारण से साधारण मनुष्य भी उस रस का क्षण भर के लिये पान करते हैं। वह है—उदीची-दिक्—उन्मुखदर्शिनी दुःखपराधीन भक्त की करुणावस्था।

परन्तु उस सोम का तत्त्व उपदेश करने वाला इस संसार में कौन है ? 'अशनि' अर्थात् 'बिजली'। यह पदार्थ है जो भौतिक पदार्थों में सर्वव्यापकता का कुछ आभास दिखा सकता है कोई भौतिक पदार्थ इससे खाली नहीं, परन्तु बिना यत्न के इस का प्रादुर्भाव नहीं होता।

इस प्रकार मंत्र का भाव यों हुआ—"निस्सहाय होकर जब

हम अपने से ऊँची किसी महाशक्ति की ओर देखते हैं उस समय हम रस के सागर करुणा के भण्डार, उस परम सोम को न भूलें। उस समय भी वही हमारा रक्षक है। वह बाहर नहीं, अन्दर ही है। बिजली हमें दिखा रही है कि थोड़ा सा रगड़ो और अपने अन्दर ही उसे पा जाओगे। उस परम सोम को नमस्कार, जो विद्युत् के पुञ्ज बनकर हमें अपने अन्दर उसे पाने का मार्ग बताते हैं उन परम-विद्युत्-शास्त्र के पण्डितों को नमस्कार। हम जिससे द्वेष करते हैं, जो हमसे द्वेष करता है, उसे उसकी न्याय की दाढ़ के अर्पण करते हैं।"

अथ ध्रुवा दिक्

ओ३म् । ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

अर्थ—(ध्रुवा) स्थिरता की (दिक्) दिशा है (विष्णु) व्याप्त होकर सबको संगठन में रखने वाला भगवान् (अधिपतिः) अधिपति है (कल्माषग्रीवः) रंग विरंगे वनस्पति जिसकी ग्रीवा रूप हैं (रक्षिता) जो कि रक्षक है। (वीरुधः) नीचे से ऊपर उठने वाले वनस्पति तथा तादृश गुण युक्त पुरुष (इषवः) प्रयोजन पूर्ति में सहायक बाण रूप हैं। आगे पूर्ववत्।

हमारे हृदय में तरङ्गें उठती हैं और विलीन हो जाती हैं। सद्-भावनाएं आती हैं और आचरण का रूप पाने से पहिले ही विदा हो जाती हैं। हे भगवान्! इन भावनाओं को स्थिर कैसे करें?

भगवान् कहते हैं--परस्पर एक दूसरे की सहायता करो। जिस भावना को स्थिर करना चाहते हो उस भावना के रसिक इकट्ठे होकर एक को बड़ा बनालो जिसमें वह भावना प्रबल हो, फिर उसके शासन में चलो। देखो भावना कैसी ध्रुव होती है। इसी का नाम है—'ध्रुवादिक'।

इसी ध्रुवता की दिशा में 'विष्णु' अर्थात् जगत् के समस्त पदार्थों में व्याप्त होकर उन्हें संयोग की अवस्था में रखने वाला प्रभु इस दिशा का 'अधिपति' है। देखो उसकी सृष्टि में क्या लीला हो रही है। वह वर्षा करता है। मानो उसकी आज्ञा होती है—गाओ! बस फिर क्या था! लाल, पीले, नीले, हरे, नारंगी, बैंगनी सभी तो तत्काल सिर उठाकर खड़े हो जाते हैं। फिर वर्षा होती है, हरियावल में फूल लग जाते हैं। शरीर सबके हरे हैं पर ग्रीवाएं 'कल्माष' हैं—रंग-विरंगी और वह 'ग्रीवा' का काम कर रही हैं। ग्रीवा का काम है बोलना (उणादि १. १५४.)। वह सब बोल रही हैं। क्या बोल रही हैं? सब रंग-विरंगी ग्रीवाओं से एक ही मूक-शब्द निकल रहा है--"देखो उसने हमें हंस-हंस कर सब का चित्त प्रसन्न करने को कहा है। हम सब रंगों का भेद भुला कर उसकी आज्ञा मान रही हैं, हमारा शासन

कर्ता 'ओ३म्' है। उसने हमें पृथ्वी की छाती फाड़ कर उलटी ओर अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर चलने की आज्ञा दी। हम वैसा ही करती हैं। इसीलिए हमारा नाम 'वीरुध्' है। ऊपर से नीचे गिरना अति सरल है, अनायास-साध्य है, किन्तु हमें अति कठिन आज्ञा हुई है। उतरना सरल है, चढ़ना कठिन है। परन्तु हम उस आज्ञा के पालन में भी तत्पर हैं। तुम अपनी भावनाओं को दृढ़ करना चाहते हो। रङ्गरूप का भेद भुला कर बड़ों के शासन में चलो, कठोर से कठोर आज्ञा का पालन करो, नीचे से ऊपर चढ़ो, यही ध्रुवता का मार्ग है।"

इस प्रकार मन्त्र का आशय यह हुआ—

"हे प्रभो! अपने उद्योगों को स्थिर तथा सफल बनाने के लिए हम तेरी विष्णुशक्ति को सदा याद रक्खें। यह संसार भर के रङ्ग-विरङ्गे वनस्पति तेरी वर्षारूप आज्ञा पाकर एक साथ सिर उठाते हैं, और एक साथ खिलकर रङ्ग-विरङ्गे कण्ठों से तेरा राग गाते हैं। हम भी रंग-भेद भुला कर तेरा राग गाना सीखें। नीचे से ऊपर चलें। तेरी विष्णुशक्ति को नमस्कार, तेरी रङ्ग-विरङ्गों से एक राग निकालने वाली संवाद-शक्ति (Power of Harmony) को नमस्कार, जिन्होंने नीचे से ऊपर चलना सीखा है उन वनस्पति सदृश महापुरुषों को नमस्कार।"

यहां विष्णुशक्ति के विषय में कुछ मनोरञ्जक बातों का उल्लेख अप्रासङ्गिक न होगा। यज्ञ का अर्थ है सङ्गति-करण। 'यज्ञ' और 'विष्णु' शब्द शतपथ-ब्राह्मण में पर्य्यायवाचीरूप से

आये हैं। इस लिए विष्णु का अर्थ है व्यापक होकर सङ्गति-करण करने की शक्ति। इस 'संगठनशक्ति' को ही पुराणों में भी 'विष्णु' के नाम से कहा गया है। परन्तु उस मूल को न समझ कर पुराणकारों ने गपोड़ों से तथा अश्लील कथाओं से ऐसा लाद दिया है कि ऋषि दयानन्द का 'विषसंपृक्तान्न' शब्द इनके लिये पूर्णरूपेण चरितार्थ होता है! तो भी इस पौराणिक अलङ्कार के मर्म्म का यहां थोड़ा-सा उद्घाटन करते हैं—

पुराण का विष्णु शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी है। मर्म्म की बात यह है कि यहां अलङ्कार से सङ्गठन का स्वरूप दिखाया गया है। वह सङ्गठन संसार में सफल होता है जिसके पास 'शङ्ख' अर्थात् अपनी आवाज़ को संसार में अधिक से अधिक मनुष्यों तक पहुँचाने के साधन समाचार पत्र, व्याख्यान-दाता, उपदेशक आदि अधिक हों। दूसरे जिसके पास 'चक्र' अर्थात् बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, रेलगाड़ी, मोटर व्योमयानादि चक्र अधिक हों। तीसरे 'गदा' अर्थात् शत्रुओं के ताड़न का दण्ड अर्थात् युद्ध सामग्री अधिक हो। चौथे 'पद्म' अर्थात् लक्ष्मी का निवास स्थान, फलतः कोष अधिक हो। इन चार के बल पर सङ्गठन चलता है। साथ ही वह संगठन 'लक्ष्मीपति' हो अर्थात् धनवानों को दबाकर रखता हो। लक्ष्मी निवास क्षीर-सागर में करती है। आज तो क्षीर-सागर के स्थान पर रुधिर-सागर, सुरा-सागर चाय-सागर काफ़ी-सागर का राज्य है, लक्ष्मी कहां रहे? विष्णु शेषशायी हैं किसी भी संगठन के आय और व्यय की तुलना

करलो, जिसमें कुछ शेष रहे वही सङ्गठन जीता रहता है हमारा शरीर एक छोटा-सा विष्णु है मुख इसका शङ्ख है, भुजाएँ गदा हैं, रुधिर का चक्र इसमें चक्र है और उदर में कोष का सञ्चय होता है अतः वह पद्म है किन्तु जब इसमें शक्ति की आय से व्यय अधिक हो जाय उसी क्षण मृत्यु हो जाती है।

विजिगीषा (Ambition) गरुड़ है उसी पर चढ़कर सङ्गठन विजय यात्रा के लिये निकलता है किन्तु विजय यात्रा के लिये निकलते ही शेष (Surplus) खाली होने लगता है इस लिये त्रैलोक्य नाथ वही है जिसके राज्य में वह दोनों वैरी सर्प और गरुड़ शेष और विजिगीषा Surplus और Ambition वैर छोड़ कर प्रेम पूर्वक रहें शेष को सर्प इसलिये कहा क्योंकि वह रेंग-रेंग कर बड़े यत्न से सञ्चित होता है।

इस प्रकार इन आलङ्कारिक बातों को देवता-विशेष बना कर पौराणिकों ने न जाने कितने गपोड़े पुराणों में भर दिये हैं। परन्तु वस्तुतः 'विष्णु-शक्ति' नाम परमात्मा की 'संगठन-शक्ति' का है।

अथोर्ध्वा दिक्

ओ३म्। ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥६॥

अर्थ—(ऊर्ध्वा) उन्नत होने की (दिक्) दिशा है (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों से भी बड़ा भगवान् (अधिपतिः) अधिपति है (श्वित्रः) जोकि श्वेत, शुभ्र ज्योतिर्मय है (रक्षिता) वह रक्षक है (वर्षम्) वर्षा तथा सुखवर्षी पुरुष (इषवः) इस उद्देश्य में इच्छापूर्ति करने वाले बाणरूप सहायक हैं। आगे पूर्ववत्।

मैं नीचे से ऊपर चढ़ता हूँ। यहाँ के दृश्य निराले हैं। यहाँ रङ्ग-बिरङ्गे रङ्ग नहीं रहे। यहाँ एक 'श्वित्रः' अर्थात् श्वेत रङ्ग हो गया है। सातों रङ्ग अन्त को यहीं तो इकट्ठे होते हैं। जो 'बृहताम्पति' है उसका यही लक्षण है—'यत्र विश्वम्भवत्येक-नीडम्'—जिसमें सब परस्पर विरोधिनी शक्तियाँ एक हो जाती हैं।' हे प्रभो! बड़ा बनने के लिये; ऊँचा उठने के लिये, मैं समन्वय करना सीखूँ। सात रंगों को मिलाकर एक रंग बनाना सीखूँ। इस दिशा के तत्त्व खोलनेवाले वर्षा के विन्दु हैं। वह तप के सहारे ऊँचे चढ़े हैं। तपस्विराज सूर्य्य के संग से तप कर ऊंचे चढ़ गये, पर यह ऊंचा चढ़ना उन्हें भाया नहीं। उन्होंने कहा—बड़ा तो वह है जो छोटों के लिये अपने आपको मिट्टी में मिला देता है। वह वर्षा की नन्हीं बूंद बनकर बरस पड़े। फिर क्या था वानस्पत्य जगत् ने भी आज्ञा पालने में कोई कसर उठा न रक्खी। अनन्त ग्रीवाओं से मिलकर, मूक किन्तु हृदय जकड़ लेनेवाली भाषा में खूब गला फाड़-फाड़ कर गाया। जब तक मुरझा न गये गाते गये। ऊर्ध्वा और ध्रुवा इस प्रकार साथ-साथ चलती हैं।

"हे बृहस्पते ! हमें ऊंचा चढ़ने का तत्त्व सिखाओ। इस दिशा के तुम्हीं अधिपति हो। हम जहाँ एक-देशी एक-रंगी किरणों का रंग देखते हैं वहां तब तक दम न लें जब तक आपका शुद्ध, शान्त, ज्योतिर्मय, श्वेत, सर्व्व-रंग-समन्वयसम्भूत रंग न देख लें। हमें ऊंचा चढ़ना सिखाने के लिये आपने वर्षा के बिन्दु भेजे हैं। आपको नमस्कार, आपकी श्वेत, ज्योतिर्मय शक्ति को नमस्कार, जिन्होंने आपके वर्षा के बिन्दुओं से ऊपर चढ़कर धरती पर गिरे हुए क्षुद्र जीवों के लिये मिट्टी में मिलना सीखा है, उन ऊर्ध्व-तम महापुरुषों को नमस्कार। जो हमसे द्वेष करता है, और जिससे हम द्वेष करते हैं, हम उसे अन्त में आपकी न्याय की दाढ़ में रखते हैं।"

अथोपस्थानम्

मनसा-परिक्रमा-मन्त्रों में द्वेष के विजय-द्वारा अहिंसा का प्रतिपादन होगया। अब तम के विजय-द्वारा प्रकाश की प्राप्ति दिखाकर सत्य का वर्णन आरम्भ होता है। संसार भर के साहित्य में झूठ को अन्धकार से तथा सत्य को प्रकाश से उपमा दी गई है, इसमें कोई बात बताने की नहीं है। असत्य के दो भाग हैं। एक 'मिथ्या' और दूसरा 'अज्ञान'। अर्थात् एक पदार्थों का यथार्थ स्वरूप ज्ञात न होना। दूसरा यथार्थज्ञान को यथार्थरूप में प्रकाश न करना। इन दोनों को ही अन्धकार कहा जाता है। ये दोनों ही एक दूसरे का कारण बनते हैं। जो आदमी सत्य-

वादी है वह विश्वास-पात्र होने के कारण शीघ्र ही ज्ञानियों का प्रेमपात्र बनकर अज्ञान से छूट जाता है। दूसरी ओर यथार्थ-ज्ञानी यदि कुसंगवश मिथ्यावादी भी हो तो भी मिथ्या-भाषण की निस्सारता का यथार्थ-ज्ञान होने के कारण कालान्तर में इस दोष से छूट ही जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रगाढ़ तत्त्वज्ञान में एक स्वाभाविक-उत्तेजना शक्ति है जो मनुष्य को तेजस्वी, निर्भय तथा स्पष्टवादी बना देती है। जब किसी मनुष्य को किसी विद्या के किसी गहरे अनाविष्कृत तत्त्व का ज्ञान होता है तो उस विषय में प्रचलित मिथ्याज्ञान को खण्डन करने की स्वाभाविक प्रवृति उसे तेजस्वी बनाकर बड़े से बड़े कष्टों का सामना करने के लिये तत्पर कर देती है। ऊंचे दर्जे का ज्ञान तत्त्वज्ञान-प्रचार की प्रबल प्रेरणा भी स्वयं ही उत्पन्न कर देता है। यद्यपि कदाचित् यह स्पष्टरूप से न बताया जा सके कि ऐसा क्यों होता है। जब कोई मनुष्य किसी गहरे तत्त्व को पाता है जिसके न जानने से सहस्रों मनुष्य कष्ट पा रहे हों तो न जाने कौनसी शक्ति उसके कान में कह देती है कि "उठ! तुझे आज एक संदेश मिला है इसका जी-जान से प्रचार कर और इसमें ही मिट जा।" वह स्वयं भी अनुभव करता है कि आज मेरे अन्दर एक ज्योति प्रादुर्भूत हो गई है जो मुझ में समा न सकेगी, उसके प्रकाश के बिना मानो मैं फटा जा रहा हूँ। इसी सत्य की महिमा का अगले तीन मन्त्रों में वर्णन है—

ओ३म् । उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥१॥

अर्थ—(वयम्) हम (तमसः) अन्धकार से (परि) परे (उत) ऊपर उठें और (स्वः) परमात्मा के सुखस्वरूपको (पश्यन्तः) देखते हुए अर्थात् अनुभव करते हुए (उत्तरम्) और अधिक ऊंची अवस्था को (अगन्म) प्राप्त हों और फिर अन्त में (सूर्यम्) सबके अभिसरणीय अर्थात् प्राप्त करने योग्य उस (उत्तमम्) सबसे श्रेष्ठ (देवत्रा) देवों के त्राणकर्ता (देवं) दिव्य गुणमय (ज्योतिः) तेज अर्थात् परमात्मा को (अगन्म) प्राप्त हों।

इस मन्त्र में तीन अवस्थाओं का वर्णन है—

तमसः परि = उत्

स्वः पश्यन्त = उत्तर

देवं सूर्य्य = उत्तम

"हे प्रभो ! हम पर ऐसी कृपा कीजिए कि हम अन्धकार से ऊपर उठें और आपके 'स्वः' (सुखमय) स्वरूप की ओर चलें। उसको देखते हुए अन्त को 'देवमार्ग' से 'परम सूर्यदेव' को प्राप्त हों।"

जब मनुष्य प्रथम-प्रथम मिथ्या ज्ञान से छूटता है और प्रकृति का यथार्थ स्वरूप जानने लगता है उस अवस्था का नाम 'उत्' अर्थात् ऊपर की ओर है। उसके पश्चात् जब उसे आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होने लगता है, जब वह जान

लेता है कि संसार-भर की विद्याओं का ज्ञान भी निरर्थक है, जब तक उससे जीवों का क्या लाभ है यह ज्ञान न हो तथा संसार के कल्याण के लिए उन्हें प्रयोग में न लाया जाय, भोग के ज्ञान का कुछ लाभ नहीं जब तक भोक्ता का परिष्कार न हो, तब तक 'उत्तर' कोटि में प्रवेश करता है। फिर उसके पश्चात् जब वह जान लेता है कि भोक्ता के सब परिष्कार अचिरस्थाई होते हैं, जब तक वह ब्रह्म साक्षात्कार की दृढ़ चट्टान पर न खड़े हों, और इस आध्यात्मिक भूख को मिटाने के लिए वह ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है, तब उसने 'उत्तम सूर्य ज्योति' को लिया। इस प्रकार—

प्रकृति का तत्त्वज्ञान = उत्
आत्मज्ञान = उत्तर
परमात्मज्ञान = उत्तम, हुआ।

अब मन्त्र का भाव यों हुआ—

"हे प्रभो हम अन्धकार से ऊपर उठते हुए, 'स्वः' (परमसुख) की ओर चलते हुए, पहले 'उत्' अर्थात् प्रकृति का, फिर 'उत्तर' अर्थात् जीव की ज्योति का ज्ञान प्राप्त करें, फिर अन्त को देव मार्ग पर चलते हुए सबके 'सूर्य्य' (अभिसरणीय = प्राप्ति योग्य) संसार-सार, उस परम—उस उत्तम—ज्योति को प्राप्त हों।"

ओ३म्। उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥२॥

अर्थ—(उत् उत्) ऊपर ही ऊपर अर्थात् उच्च से भी उच्च (त्यम्) उस (जातवेदसम्) अन्तर्यामी (सूर्यम्) अभिसरणीय (देवम्) देव के पास (विश्वाय) सम्पूर्ण (दृशे) दर्शन के लिए अर्थात् परम साक्षात्कार के लिए (केतवः) उसकी इस संसार में खिली हुई अनन्त किरणें हमें (वहन्ति) पहुँचा देती हैं।

अब प्रश्न उठता है कि यह 'उत्' से उत्तर और उत्तर से उत्तम—ऊपर-ही-ऊपर चढ़ने—का क्रम कैसे चले? इसके उत्तर में कहते हैं कि उस 'जातवेदः' अर्थात् सर्वज्ञ, सबके अभिसरणीय देव की ओर ऊपर-ही-ऊपर ले जाने वाली उसकी अनन्त किरणें खिली पड़ी हैं, उसकी ओर ले जाने वाले अनन्त मार्गों पर अनन्त झण्डियां गड़ी हुई हैं, किसी एक को पकड़ लो और वह तुम्हें विश्व-दर्शन तक ले जावेगी। सब झण्डियों पर एक ही शब्द लिखा है— 'उसकी ओर'। सबका सँकेत उसी की ओर है इसी लिये उनका नाम 'केतु' है। इसी आशय को लेकर किसी कवि ने कहा है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिदं,
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

ओ३म् । चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षँ सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥ ३ ॥

अर्थ—(देवानाम्) देवों की (चित्रम्) यह विचित्र (अनीकम्) सेना (उद्गात्) मेरे सामने व्यूह बद्ध उदय हुई है. यह देव सेना ही (मित्रस्य) मित्र (वरुणस्य) वरुण (अग्नेः) तथा अग्नि की (चक्षुः) तत्वोपदेशिका है। और वह इस तत्व का उपदेश देती है कि (द्यावापृथिवि) धरती आकाश (अन्तरिक्षम्) और अन्तरिक्ष इन सब में ही (सूर्य) सब का अभिसरणीय अर्थात् प्राप्त करने योग्य (आत्मा) सतत गामी महाशक्ति (प्रभु) (आप्रा) आपूर्ण है (स्वाहा) आहा ! क्या अच्छी बात है।

उस प्रभु की सृष्टि में जितनी विज्ञान की शाखायें हैं उनमें से किसी एक को भी पकड़ कर जब मनुष्य विश्वदर्शन की अवस्था तक पहुँच जाता है उस समय वह जिस आनन्द और विस्मय के अद्भुत सम्मेलन में पहुँच जाता है उसका वर्णन इस मन्त्र में करते हैं। इस अवस्था में पहुँचे हुए मनुष्य के लिये एक देव-सेना उसकी आंखों के आगे व्यूहकौशल दिखा रही होती है। उस कौशल को देखकर वह आनन्द और विस्मय के साथ चिल्ला उठता है 'चित्रम्' देखो ! देखो !! यह चेतावनी देने वाली विस्मय की खान तुम्हें सचेत कर रही है—चित्रम् !!!

पर इस 'चित्रम्' का आश्चर्य एक मूर्ख का आश्चर्य नहीं।

मूर्ख के आश्चर्य में उसे कुछ नहीं सूझता। विद्वान् के आश्चर्य में उसे इतनी बात सूझती है कि किस किस पर आश्चर्य करे यह नहीं सूझता। यही अवस्था 'मित्र' की और यही 'वरुण' की है। 'मित्र' विद्वान् लोग हैं जो संसार में स्नेह उत्पन्न करते हैं, अर्थात् ललित कलाओं के पण्डित। वरुण वे हैं जो पृथ्वी पर शासन करते हैं जिनका काम मनुष्यों की इच्छा शक्ति से पड़ता हैं। 'अग्नि' वे लोग हैं जो ज्ञान की वृद्धि में लगे रहते हैं। इन सब को अन्त में एक ही बात दिखाई देती है—चित्रम्।

छान्दोग्यकार ऋषि की भांति सङ्गीत प्रेमी विद्वान् को इस विश्व में एक सङ्गीत सुनाई दे रहा है। उस प्रभुकी सृष्टि में बिखरे हुए स्वर-समुदाय को उसने एक विशेष क्रम से इकट्ठा करके वाद्य में बनाया अथवा कण्ठ से गाया परन्तु उसे पूरा आनन्द न आया। फिर उसने विश्व के राग में अपना स्वर मिलाया। समय की रागिनी छेड़ी अपना हृदय भी तन्मय कर दिया। अब वह गा रहा है और अपनी कृति पर स्वयं आश्चर्य कर रहा है। वह अनुभव कर रहा है कि आज वह नहीं गा रहा, आज तो वह स्वयं भी एक वाद्य बना हुआ है। आज तो उसे वाद्य बनाकर कोई और ही गा रहा है। वृक्ष में संगीत पत्तों में भी संगीत, फूलों में संगीत, बन में संगीत, पर्वत में संगीत, गिरि-गुहा में संगीत, आकाश के तारों में संगीत, शरीर की रग रग में संगीत, चारों ओर संगीत छाया हुआ है। यह सारी संगीत-श्रृङ्खला उसके कण्ठ-संगीत का साथ दे रही हैं।

एक एक स्वर एक देव है। परन्तु वह अस्तव्यस्त नहीं घूम रहे। किन्तु यह तो एक—देवानाम् अनीकम्—देवों की व्यूहबद्ध सेना है। यह क्या कहने आई है? कहने आई है कि इस सेना की व्यूह रचना के पीछे सेनापति छिपा हुआ है। तू सेना के कौशल पर मस्त है, पर यह सेना तो 'चक्षुः' है सेनापति का दर्शन कराने अथवा उसकी कहानी कहने आई है। कुछ तू भी सुन! उत्तर मिलता है—सुनता हूँ—'चित्रम्'!

उधर वरुण' को देखिये। मनुष्य समाज के कल्याण के लिये एक आंदोलन उसने उठाया। उसमें अनेक विघ्न आये। वह घबराया भी नहीं, प्रतिपक्षियों पर झुंझलाया भी नहीं, सदा अपना दोष ढूँढ कर और अधिक तप द्वारा उसे जीत कर आगे बढ़ता गया। अब न जाने क्या बात है, कल नदियां उसका मार्ग रोक रही थीं आज उसका खेत सींच रही हैं! कल पहाड़ उसके मार्ग के प्रतिबन्धक थे, आज उसके द्वार के पहरेदार हैं; कल पवन उसके घर का दीवा बुझा रहा था, आज पङ्खा कुली बना हुआ है! कल सूर्य की किरणों से मुँह झुलस रहा था, आज फुलवारी खिल रही है! कल सारा विश्व उसका शत्रु था, आज यह काया किसने पलट दी है? यह देव-सेना, जो कल दैत्य-सेना दीखती थी, मेरे सामने क्या सन्देश लाई है? उत्तर मिला है—'चक्षुः'।

फिर वही प्रश्न-परम्परा और फिर वही पर्यवसान—चित्रम्। चलिये अग्नि-शाला में चलें। ये ज्योतिः—शास्त्र के

'अग्नि' अग्रणी, (Pioneer) हैं। आपको सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति कुछ चमकने वाले पिण्ड-मात्र प्रतीत होते हैं। किन्तु इनसे पूछिये, इनके लिये यह एक देव-सेना है जो मर्यादा में बँधी हुई व्यूह-रचना कर रही है। ये आज ही बता सकते हैं दस वर्ष पीछे अमुक नक्षत्र कहां होगा। इनकी सब खोज की भी एक ही समाप्ति है—चित्रम्।

इन वनस्पति-शास्त्री से पूछिये। यह वृक्ष का पत्ता आपके लिये एक पत्ता है। इनके लिये एक पुस्तक है—एक देव-सेना है।

अग्नि, मित्र, वरुण सब कह रहे हैं हमें 'चक्षुः'—आंख—मिल गई। पूछते हैं कौनसी ? बोले, देव-सेना। कहते हैं, इस आंख से देखते क्या हो ? उत्तर मिलता है—चित्रम !

यह अश्चर्यजनक देव-सेना अपना सन्देशा कह गई—अपना दर्शनीय दिखा गई। देखा तो यह देखा कि इस सारे स्थावर-जङ्गम के पीछे एक ही सतत-गामी; सबका सूर्य (अभि-सरणीय) परमात्मा द्यावापृथिवी में ओत-प्रोत है। स्वाहा—वाह ! वाह !!

अथादैन्यव्रतापोयनम्

ओ३म्। तच्चक्षुर्देवहितम् पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्

पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्।

शृणुयाम शरदः शतम्। प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः

स्यामशरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्॥

अर्थ—(१) (तत्) वह ब्रह्म (चक्षुः) सबका मार्ग दर्शक है तथा (देवहितम्) विद्वानों का परम हितकारक है. (पुरस्तात्) वह सबसे प्रथम (उच्चरत्) सबसे ऊपर विद्यमान (शुक्रम्) तेजोमय शक्ति है। हम उसे (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (पश्येम) ज्ञान-चक्षु से देखें। उसकी कृपा से (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (शृणुयाम) सुनें। तथा उन्हीं गुणों को (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (जीवेम) जीवें। उसके गुण (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (प्रब्रवाम) दूसरों को उपदेश करें। जिससे हम (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (अदीनाः) अदीन (स्याम) हों। और (शतात्) सौ से (भूयः) अधिक (शरदः) वर्षों तक (च) भी अदीन होकर रहें।

यह तो हुआ आध्यात्मिक अर्थ, इसी का शौरचक्र सम्बन्धी आधिभौतिक (२) अर्थ है—

(तत्) वह (पुरस्तात्) सामने (उच्चरत्) उदय होता हुआ (शुक्रम्) ज्योतिर्मय (देवहितम्) परमेश्वर की ओर से नियत (चक्षुः) ब्रह्मचर्य्य मार्गोपदेशक है। हे प्रभु ऐसी कृपा करिये कि हम इस उपदेष्टा को (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (पश्येम) देखें अर्थात् वह जो वीर्य्यवत्ता का उपदेश दे रहा है उसे ग्रहण करके हम भी ऐसे तेजस्वी नेत्र वाले हों। तथा (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (शृणुयाम) हमारी श्रवण शक्ति बनी रहे, तथा (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (प्रब्रवाम) हमारी प्रवचन शक्ति बनी रहे, तथा (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (अदीनाः) अदीन

अपराधीन (स्याम) होकर रहें और (शतात्) सौ से (भूयः) अधिक (शरदः) वर्षों तक (च) भी ऐसा हो।

मानव जीवन की उन्नति के आधार अहिंसा के सङ्कल्प का 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः' में वर्णन हो गया। अब ब्रह्मचर्य के सङ्कल्प का वर्णन होता है ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्रह्म में सब शक्तियों को चराना जिससे वे विषयों में न चरें। इसलिए उस ब्रह्म की महिमा का वर्णन करते हैं:—

"जो ब्रह्म चक्षुः सबका मार्गदर्शक, सबको राह बताने वाला (चष्टे इति चक्षुः) तथा विद्वानों का परम हितकारक हैं। जो सब से प्रथम तथा शुद्ध तेजोमय सर्वोच्च शक्ति है, उसको हम सौ वर्ष पर्यन्त ज्ञानचक्षु से देखें। उसकी कृपा से सौ वर्ष तक जीवें, उस के गुण सौ वर्ष तक श्रवण करें, उन्हीं का सौ वर्ष अन्यों को उपदेश करें, जिस से हम सौ वर्ष तक अदीन होकर रहें। और सौ वर्ष तक ही क्यों सौ वर्ष से अधिक भी।"

इस प्रकार ब्रह्म के ध्यान से क्या फल होता है यह इसी मंत्र के स्थूल जगतपरक दूसरे अर्थ से प्रगट होता है।

'तत् अर्थात् वह सूर्य्य (जिस का ब्रह्मचारी को उपनयन के समय दर्शन कराया जाता है) सब के हित के लिए परम प्रभु ने तुम्हारे सामने आकाश में स्थापित किया है। वह 'चक्षुः' अर्थात् नेत्र की तरह आन्तरिक अवस्था को यथार्थ रूप में कहने वाला एक व्याख्यानदाता है, वह तुम्हारे सामने शुद्ध ज्योतिर्मय सूर्य्य उदय हो रहा है और कुछ कह रहा है। कह रहा है कि

ब्रह्मचारी के नेत्र ऐसे ज्योतिर्मय होते हैं। तुम भी अपने नेत्र ऐसे ही बना लो। हे प्रभो! हम पर ऐसी कृपा कीजिए कि आपके संसार रूपी दूत की यह चक्षु हमें जो ब्रह्मचर्य का सन्देश दे रही है इसे हम एक दो दिन नहीं बराबर सौ वर्ष और उससे भी अधिक ग्रहण करें। सौ वर्ष तक सुनें और सुनावें जिससे सच्चे ब्रह्मचारी बनकर हम सौ वर्ष और उससे अधिक भी जितना जियें उतने काल तक कभी दीन और पराश्रित न हों।"

सौ वर्ष तक लोग अब भी जीते हैं। परन्तु १०० वर्ष तक जीते हुए भी अदीन हो कर जीना उन्हें ही नसीब होता है। जिन्हों ने इस ब्रह्मचर्य के परम रसायन का यथावत् सेवन किया है।

इस मन्त्र का ब्रह्मचर्य से सम्बन्ध इसी से स्पष्ट है कि उपनयन के दिन ब्रह्मचारी को यह मन्त्र पढ़ाकर सूर्य्य का दर्शन कराया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में सूर्य्य को 'रेतोदेवता' अर्थात् वीर्य्य का देवता कहा है। और ब्रह्मचारी को इस से सुन्दर आदर्श बताया भी क्या जा सकता है? हम लोग यदि किसी को ब्रह्मचर्य के लिए आदर्श बनाना चाहें तो हनुमान्, भीष्म, शङ्कर, दयानन्द आदि अनेक महापुरुषों के नाम ले सकते हैं। परन्तु अनादि-निधना भगवती वेदवाणी इस प्रकार के ऐतिहासिक अनित्य पुरुषों का वर्णन कैसे करे? इस लिए उसमें विश्व की घटनाओं में से ही अलङ्कार बांधकर उपदेश

दिया जाता है। अलंकार है भो कितना सुन्दर! इसकी सुन्दरता का अनुभव वे ही कर सकते हैं जिन्हों ने कभी प्रातःकाल उठकर सूर्य्य की नवीन जीवन-सञ्चार करने वाली किरणों में स्नान किया है। इसी पर तो ऋषि बोल उठे :—

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मि शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्य्यः ॥

इस प्रकार इस मन्त्र में सूर्य्यों के सूर्य्य ब्रह्म का तथा इस ग्रह चक्र के सूर्य्य का श्लेष से वर्णन करके सन्ध्या के परम तत्त्व ईश्वर-प्रणिधान पर आते हैं।

अथ गायत्री

ओ३म्। भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

अर्थ—ओ३म्=(अ) विविध जगत् का प्रकाश करने वाला (उ) जिस के गर्भ में सूर्य्यादि लोक हैं। (म्) जो सब का स्वामी नाश रहित तथा ज्ञान स्वरूप है (भू) जो प्राणों से भी प्रिय है (भुवः) जो मुक्तों और भक्तों को दुःखों से अलग करने वला है। (स्वः) जो सब जगत् को व्यापक होकर नियम में रखता है तथा सुख स्वरूप है (सवितुः) सब जगत् के ऐश्वर्यदायक (देवस्य) सब के आत्माओं को प्रकाश करने वाले देव के (तत्) उस (वरेण्यम्) ग्रहण करने योग्य (भर्गः) शुद्ध विज्ञान स्वरूप को (धीमहि) हम लोग सदा प्रेम-भक्ति से निश्चय

करके अपनी आत्मा में धारण करें (यः) जो (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों की (प्रचोदयात्) कृपा करके सब बुरे कामों से अलग करके उत्तम कामों में प्रवृत करें।

सूरदासका पद है—"जब लग गज बल अपनो बरत्यो काम न नेक सरयो।" अर्थात् जब तक ग्राह के पकड़े हुए हाथी ने अपना बल लगाया उसका काम सिद्ध न हुआ, किंतु ज्यों ही उसने निराश होकर प्रभु को पुकारा, आधा नाम लेते ही वह पहुँच गए। वैदिक धर्म इस भक्ति:मार्ग से घबराता है। जो अपना बल नहीं बरतता वह प्रभु का सब से बड़ा निन्दक है। वह मानो कह रहा है कि हे प्रभो! आंख, नाक, कान, हाथ, पैर और इन सब से बढ़कर बुद्धि आपने मुझे व्यर्थ दिये। किंतु हां, एक प्रकार अर्थ करें तब उपर्युक्त वाक्य सार्थक भी हो सकता है। जो अपने बल को अपना जानकर बरतता है उसके कार्य यदि बिलकुल निष्फल नहीं तो क्षणिक फल देने वाले तो होते ही हैं। इससे अधिक फल वे नहीं ला सकते यह बात 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इस मंत्र की व्याख्या में हमारे सुहृद्वर पण्डित चमूपति जी बड़े सुन्दर रूप से दिखाया करते हैं। इसी लिए इसे लगभग उन्हीं के शब्दों में उपस्थित करता हूँ——"ब्राह्मण परमेश्वर का मुख है। क्योंकि उसने अपने मुख को प्रभु का मुख बना दिया है। जिस प्रकार सरकार के साधारण से साधारण सिपाही पर किया हुआ हमला राजा पर हमला है, उसी प्रकार

निष्काम भाव से प्रभु की आज्ञा प्रजा को सुनाने वाला मुख प्रभु का मुख बन गया है। जिस समय न्यायालय में अभियोग चलता है तो 'रामलाल चपरासी बनाम श्यामलाल' नहीं चलता किन्तु 'राजराजेश्वर बनाम श्यामलाल' चलाया जाता है।" इस प्रकार वैदिक धर्मी का विश्वास यह नहीं कि अपना बल मत बरतो। किन्तु वैदिक धर्मी की भक्ति की राह बड़ी कठिन है। वह तो कहता है—अपना सारा बल भी लगा और फिर भी उसे अलग मत समझ। इसे एक दृष्टांत से समझाते हैं कभी कभी रेलगाड़ी के कमरे में बैठा बालक गाड़ी को धक्का देता है और दैवयोग से उसी समय गाड़ी चल पड़ती है। वह समझ लेता है मेरे धक्के से चली है ऐसे ही जब हम 'उसकी' आज्ञाओं के अनुकूल चल रहे होते हैं तो जो सफलता पाते हैं उसे अपनी समझ लेते हैं। यह भूल जाते हैं कि सफलता उसके अनुकूल चलने से ही मिली है। ज़रा प्रतिकूल चल कर देख और तुझे अपनी शक्ति का पता लग जायगा इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी प्रतिकूल चलने वालों को भी क्षणिक सफलता मिलती है। किन्तु वह भी सञ्चित पुण्यों के फलस्वरूप उसके नियमानुकूल ही मिलती है। उसकी मर्यादा से हटकर हम क्षण भर भी नहीं जी सकते। जहाँ सञ्चित कर्म समाप्त हुए कि बड़े से बड़े मदान्धों का गर्व्व चूर हो जाता है। सारा इतिहास इसका साक्षी है। इसलिये जो मनुष्य भोगैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा, सब प्रकार की एषणाओं का पूर्ण विजय

करके सब कर्मों को उसकी आज्ञा समझ कर करते हैं उनका मुख उसका मुख, उनके हाथ उसके हाथ, उनके पैर उसके पैर, यहां तक कि उनके भोगसाधन भी उसकी सृष्टि के कल्याण होने के कारण उसके ही हो जाते हैं। ऐसे मनुष्य जो कर्म्म करते हैं उन्हें प्रभु से साक्षात प्रेरणा भी मिलती रहती है। यद्यपि, मनुष्य अपनी स्वाभाविकता क्षुद्रता के कारण कभी अपनी सूक्ष्मवासना को आत्मवञ्चन द्वारा उसकी आज्ञा न समझ ले, इसलिये भक्त को सदा आत्म-परीक्षा के समय अपने आचरण को शास्त्र की कसौटी पर भी कसते रहना चाहिये। परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस कोटि पर पहुँचे हुए भक्तों की बुद्धि को दैवी प्रेरणा मिलती है। किन्तु यह उच्चावस्था किसी व्यक्ति विशेष के लिये रोककर नहीं रखी गई। जो चाहे इस पदवी पर पहुँच सकता है। उसका मार्ग है 'ईश्वर प्रणिधान।' यही बात गायत्री मत्र में कही गई है। इसी अवस्था के लिए इस मंत्र में प्रार्थना की गई है। इसलिए इस मन्त्र की सबसे अधिक महिमा है।

इस 'ईश्वर प्रणिधान।' में और भी चमत्कार उत्पन्न हो जाता है जब हम सन्ध्या के मन्त्रों में इसकी क्रमस्थिति पर ध्यान देते हैं। मनसा परिक्रमा के अभेद्य कवच को धारण करके जिसने सब भूत दया का पाथेय ग्रहण किया, सत्य की खोज में विज्ञान की उच्चतम दशा तक पहुँचकर जिसने विश्वदर्शन का सौभाग्य पालिया, ब्रह्मचर्य के अमोघ रसायन से जो जाज्वल्य-

मान हो गया, जिसकी आंख के आगे प्रतिद्वन्द्वी की आंख नहीं टिकती, जो अदीनता के धन का धनी है, वह दैन्य से नहीं, आत्म-धिक्कार से नहीं, किन्तु प्रभु की निष्काम प्रीति से, लोक के कल्याण की भावना से, अभिमान के विजय की कामना से, अपनी इस सारी सम्पत्ति-समृद्धि का प्रभु के चरणों में विनीत उपहार करता हुआ अद्भुत शोभा पाता है। मानों प्रभु उससे कहते हैं—'सा मय्येव स्खलन्ती कथयति विनयालङ्कृतं ते प्रभुत्वम्।

इस प्रसङ्ग में एक भक्त-सम्प्रदाय में प्रचलित कथा का भी उद्धृत करना अप्रासङ्गिक न होगा। सुनते हैं किसी समय एक अति फटे-पुराने, मैले वस्त्रों वाला एक मनुष्य एक साहूकार के पास नौकरी के लिये गया। साहूकार ने उसे नौकर रख लिया। उसने बड़ी लगन और सत्य परायणता से काम किया। इसलिये वह धीरे धीरे स्वामी का कृपा पात्र हो गया। स्वामी की कृपा से उसके पास अति सुन्दर वस्त्र हो गये और वह आप भवन में निवास करने लगा। उसका नियम था कि प्रतिदिन प्रातःकाल एक सन्दूक के दर्शन करके पीछे घर के काम-काज को हाथ लगाया करता था। उधर स्वामी के अन्य सेवक ईर्ष्या से जलने लगे। उनमें से एक ने स्वामी जी से कहा कि देखिये आप जिसे अपना परम विश्वास पात्र समझते हैं वह कितना नीच है सो स्वय चलकर देखें। उसने आपकी सम्पति में से अनेक बहुमूल्य पदार्थ चुराकर रक्खे हैं और प्रतिदिन प्रातःकाल उन्हें

देखकर मन ही मन प्रसन्न हुआ करता है । जब स्वामी को विश्वास न आया तो वह बोला कि आप अमुक समय अमुक कोठरी में स्वयं जाकर देखलें । अगले दिन स्वामी जाकर छिप रहा । जब वह सेवक आया और नित्य नियमानुसार सन्दूक खोलकर देखने लगा तो एकदम स्वामी भी ऊपर से आकर खड़ा हो गया । स्वामी ने देखा कि सन्दूक में कुछ फटे-पुराने मैले-कुचैले वस्त्र रक्खे हैं । स्वामी ने आश्चर्य्यान्वित होकर पूछा, यह क्या है ? सेवक ने कांप कर उत्तर दिया—"स्वामिन् ये वस्त्र हैं जिन्हें पहिन कर मैं आपकी सेवा में आया था आज ऐश्वर्य के दिनों में प्रति दिन इनका दर्शन कर लेता हूँ जिससे मैं भूल न जाऊँ कि आपने मुझपर कितनी कृपा की है ?"

इसी प्रकार भक्त को भी ऊंची से ऊंची अवस्था पर पहुँच कर यह न भूल जाना चाहिये कि वह जो कुछ बना है । उस करुणासागर के सत्सङ्ग तथा भजन की कृपा से बना है । ऊंचे से ऊचे पद पर पहुँच कर भी वह प्रभु से ही प्रेरणा माँगता हुआ कहे—'धियो यो नः प्रचोदयात् ।'

इस प्रकार उपासना करके 'शन्नो देवी' इस मन्त्र में जिस 'शम्' शब्द से आरम्भ किया था वहीं उपसंहार करते हैं ।

अथ समर्पणम्

ओ३म् । नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ।

अर्थ—(शम्भवाय) शान्ति के रूप प्रभु के लिए (नमः) नमस्कार (च) और (मयोभवाय) सुखरूप प्रभु को नमस्कार (शङ्कराय) जो दूसरों को शान्ति देता है उस प्रभु को (नमः) नमस्कार (च) और (मयस्कराय) जो दूसरों को सुख देता है उस प्रभु को (नमः) नमस्कार (शिवाय) जो सबका कल्याण करता है उस प्रभु को (च) और (शिवतराय) जो उससे भी बढ़कर शांति देता है उस प्रभु को नमः (नमस्कार)।

अब मैंने आगे बढ़ना भी सीख लिया, अकड़ना भी सीख लिया, पर इन दोनों से बढ़कर आनन्द, सिर झुकाने में पाया, अब तो झुकना बहुत भाता है—

'शान्ति के रूप—जो शान्ति ही है—उस प्रभु को नमस्कार' सुखरूप प्रभु को नमस्कार, जो दूसरों को शान्ति देता है उसे नमस्कार, जो कल्याण करता है और फिर उससे भी बढ़कर कल्याण करता है उस प्रभु को नमस्कार !!'

सन्ध्या के मन्त्रों का अनुवाद

१

वह सब कामनाओं को प्राप्त कराने वाली दिव्य (तेजोमय) प्रभु शक्ति हम सबके लिये हमारी अभीष्ट सिद्धि के निमित्त और परम रस का पान करने के लिये शान्तिदायक हो और सुख को बरसावे।

२

उस प्रभु की कृपा से मेरी वाणी, मेरे प्राण, मेरी आंखें, मेरे कान, मेरी नाभी, मेरा हृदय, मेरा कण्ठ, मेरा सिर, यह सब यशोबल देने वाले हों। उस यशोबल को मैं अपनी भुजाओं से प्राप्त करूँ। मैं अपने कर्मों को अपनी और दूसरों की दोनों दृष्टियों से देखूँ। मैं हाथ की हथेली और हाथ का तल दोनों सामने रखूँ।

३

सबका उद्भवस्थान प्रभु हमारे सिर में पवित्रता करे। उत्पत्ति का साधन प्रभु हमारे नेत्रों में पवित्रता करे। सुखस्वरूप प्रभु हमारे नेत्रों में पवित्रता करे। महान् प्रभु हमारे हृदय में पवित्रता करे। जनक प्रभु हमारी नाभी में पवित्रता करे। तपोमय भगवान हमारे पैरों में पवित्रता करे सत्यशील प्रभु फिर सिर में पवित्रता करे। आकाश की तरह व्यापक प्रभु हमें सर्वत्र पवित्र करे।

४

ओं सबका उद्भवस्थान है, ओं सबका उत्पत्तिसाधन है। ओं सुखस्वरूप है। ओं महान् है। ओं जनक है ओं तपोमय है। ओं सत्यरूप है।

५

कुल हरकत करने वालों के वश में करने वाले उस परमेश्वर ने दिन-रात को बनाया। उसी परमेश्वर ने पहली सृष्टि की तरह

सूर्य और चांद को बनाया। उसी ने द्यौ (आसमान) को, पृथिवी को और अन्तरिक्ष को बनाया। उसी परमेश्वर के देदीप्यमान प्रताप से यथार्थ ज्ञान, वेद और स्थूल प्रकृति कार्यरूप में प्रकट हुए। उससे ही प्रलय अवस्था उत्पन्न हुई। उससे ही जल का समुद्र और मेघ लहरों वाले उत्पन्न हुए। लहरों वाले समुद्र के बाद दिन, महीना, वर्ष आदि व्यवहार उत्पन्न हुए।

६

भक्ति मार्ग में मेरी सबसे पहिली दिशा आगे बढ़ने की दिशा है। अग्रणी भगवान इसमें अधिपति हैं। बन्धन काटने वाला उनका गुण रक्षक है। आदित्य ब्रह्मचारी बाण की तरह इस निशाने पर पहुँचाने वाले हैं। उस अधिपति को नमस्कार रक्षक को नमस्कार, आदित्यों को नमस्कार, इन सबको नमस्कार, हो। जो हमसे द्वेष करता है, जिससे हम द्वेष करते हैं, उसे आपकी न्याय रूप दाढ़ में रखते हैं।

७

आगे बढ़ने का परिणाम ऐश्वर्य है। यह भक्त की दूसरी दिशा है। सबसे बड़ा ऐश्वर्य, बड़ा भगवान इसका अधिपति है। जो अभिमान को दूर करके कुटिल चाल से बचाता है। अनुभवी पितर लोग बाण की तरह इस निशाने पर पहुंचाने वाले हैं। उस अधिपति को नमस्कार, रक्षक को नमस्कार, पितरों को नमस्कार, इन सबको नमस्कार हो। जो हमसे द्वेष करता है, जिससे हम द्वेष करते हैं, उसे आपकी न्याय रूप दाढ़ में रखते हैं।

८

जिसने आगे बढ़ना सीख लिया, ऐश्वर्य पाकर, जो मद में नहीं आया, उसके पीठ पीछे का रखवाला भगवान वरुण है। वह छिप कर घात करने वालों से बचाता है। छिप कर घात करने वाले जिन्हें अपना अन्न बनाते हैं, उन्हीं का अन्न बन जाते हैं। यह संसार का अनुभव हमें बाण की तरह इस निशाने पर पहुँचाने वाला है।

९

उस अधिपति को नमस्कार, रक्षक को नमस्कार, अन्न को नमस्कार, इन सबको नमस्कार हो जो हमसे द्वेष करता है, जिससे हम द्वेष करते हैं, उसे आपकी न्याय रूप दाढ़में रखते हैं।

१०

जब यत्न करने पर भी सारी शक्ति लगाने पर भी, भक्त को सफलता न हो, तब वह व्याकुल हो कर अपने से ऊँची शक्ति की ओर ताकता है। इसका नाम उदीची दिशा है। यहां भगवान सोम रूप होकर अपना मीठा रस बरसाते हैं। वही इस दिशा के भी अधिपति हैं। इस सोम को हम पर्वत पर नहीं किन्तु अपने अन्दर ही पाते हैं। यही विश्वास हमारी रक्षा करता है। सर्वत्र रहने वाली और ठीक प्रयत्नसे प्रकट होने वाली बिजली हमें बाण की तरह इस निशाने पर पहुँचाती है। उस अधिपति को नमस्कार, रक्षक को नमस्कार, आध्यात्मिक बिजली के तत्व-ज्ञानियों को नमस्कार, इन सबको नमस्कार हो। जो हमसे द्वेष

करते हैं जिससे हम द्वेष करते हैं, उसे आपकी न्याय रूप दाढ़ में रखते हैं।

११

पवित्र भावों को स्थिर करने के लिये, अपने समान उद्देश रखने वालों के साथ, मिलकर संगठन बनाना, यह भक्ति मार्ग की अगली दिशा है। इस दिशा का नाम ध्रुवा (पायेदार) है। इस दिशा के भगवान् विष्णु हैं। इस भावना की रक्षा के लिये उन्होंने रंग बिरंगे फूलों वाला संसार बनाया है। रंग भेद भुला कर स्वामी की आज्ञा पाने पर, नीचे से ऊपर की ओर जाने वाले वृक्ष और उनसे इस गुण को सीखने वाले महापुरुष वाण की तरह हमें इस निशाने पर पहुँचाते हैं। उस अधिपति विष्णु को नमस्कार, उन रंग विरंगे भेद भुलाने वाले को नमस्कार, उन नीचे से ऊपर की ओर चढ़ने वाले रक्षकों व सच्चे सेवकों को नमस्कार। इन सबको नमस्कार है। जो हमसे द्वेष करता है, जिससे हम द्वेष करते हैं, उसे आपकी न्याय रूप दाढ़ में रखते हैं।

१२

जहां सब रंग मिल कर एक हो जाते हैं, जहां उस प्रभु का साक्षातकार होता है उसका नाम ऊर्ध्वा (ऊँची) दिशा है। इस दिशा में हम कहते हैं "हे बृहस्पते! हमें ऊँचा चढ़ने का तत्व सिखाओ। इस दिशा के तुम्हीं अधिपति हो। हम जहां एक देशी एक रंगी किरणों का रंग देखते हैं वहाँ तब तक दम न लें

जब तक आपका शुद्ध शान्त, ज्योतिर्मय श्वेत, सब रंगों के मिलने से पैदा होने वाले, रंग न देख लें। हमें ऊँचा चढ़ना सिखाने के लिये आपने वर्षा के बिंदु भेजे हैं। आपको नमस्कार आपकी श्वेत, ज्योतिर्मय शक्ति को नमस्कार जिन्होंने आपके वर्षा के बिन्दुओं से ऊपर चढ़ कर धरती पर गिरे हुये क्षुद्र जीवों के लिये मिट्टी में मिलना सिखाया है, उन उच्चतम महापुरुषों को नमस्कार। जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं, हम उसे अन्त में आपकी न्याय की दाढ़ में रखते हैं।

१३

हे प्रभु हम अविद्या के अन्धकार में पड़े हैं। हम आपके सुख स्वरूप को देखते हुये, उस अन्धकार से ऊपर उठें और प्रकृति के तत्त्व को पहचानें। फिर उससे ऊपर उठें और अपने तत्व को पहचानें। फिर उससे ऊपर उठकर देवों में जा मिलें। जहाँ हम सबसे उत्तम ज्योति, सब सूर्यों के सूर्य उस परम देव को प्राप्त हों।

१४

वह सूर्य सारे विश्व का दर्शन कराता है। उसने अपनी सृष्टि में अनन्त झंडियां लगाई हैं, जो उनमें से किसी एक झंडी को पकड़ लेता है उसे यह झंडी रास्ता दिखाती हुई अन्त में उस अन्तर्यामी के पास ले जाती है। यह उसके ज्ञान की अनन्त किरणें हैं।

१५

इन किरणों में से एक को पकड़ कर चलने वाला भक्त वहां पर पहुँच कर पुकार कर उठता है—

देवों की यह विचित्र सेना मेरे सामने व्यूह बांध कर उदय हुई है। यह देव सेना ही मित्र वरुण और अग्नि सबको रास्ता दिखाती है। वह कहती है कि धरती, आकाश, अंतरिक्ष इन सब में एक महान् आत्मा व्यापक है जो हमें कवाईद करा रही है, वही सबका मंजिले मकसूद है। वाह वाह।

१६

हे देव! वह सामने खड़ा हुआ ज्योतिर्मय सूर्य आपकी ओर से नियत किया हुआ ब्रह्मचर्य का उपदेशक है। हे प्रभु ऐसी कृपा करिये जिससे हम सौ वर्ष तक इसे देखें जिससे १०० वर्ष तक हमारे नेत्र तेजस्वी रहें, सौ वर्ष तक हमारी श्रवण शक्ति बनी रहे, सौ वर्ष तक हम जो कुछ सुनें वह दूसरों को भी सुनावें। सौ वर्ष तक हम कभी दीन न हों। सौ वर्ष तक ही क्यों उससे अधिक भी ऐसा हो।

१७

ओ विविध जगत् का प्रकाश करने वाला, सूर्य आदि लोकों को अपने गर्भ में धारण करने वाला, सबका स्वामी ज्ञानस्वरूप और नाश रहित है। उस सविता देव के प्राणोंसे भी प्रिय मुक्तों और भक्तों को दुःखों से अलग रखने वाले, सुख स्वरूप, सबके ग्रहण करने योग्य शुद्ध विज्ञान रूप को हम लोग सदा प्रेम भक्ति

से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें जो हमारी बुद्धियों को कृपा करके सब बुरे कामों से अलग करके उत्तम कामों में प्रवृत्त करे ।

१८

शान्ति रूप प्रभु को नमस्कार, सुख रूप प्रभु को नमस्कार, जो दूसरों को शान्ति देता है उस प्रभु को नमस्कार, जो दूसरों को सुख देता है उस प्रभु को नमस्कार, जो सबका कल्याण करता है फिर उससे भी बढ़कर कल्याण करता है, उस प्रभु को नमस्कार ।

अथ देवयज्ञः

देवयज्ञ का आचरण इस प्रकार से करना चाहिये कि सन्ध्योपासना करने के पश्चात् अग्निहोत्र का समय है। उसके लिये सोना, चांदी, तांबा, लोहा या मिट्टी का कुण्ड बनवा लेना चाहिये। जिसका परिमाण सोलह अंगुल चौड़ा, सोलह अंगुल गहरा और उसका तला चार अंगुल का लंबा चौड़ा रहे। एक चमचा जिसकी डण्डी सोलह अंगुल और उसके अग्र भाग में अंगूठा की यवरेखा के प्रमाण से लम्बा चौड़ा आचमनी के समान बनवा लेवे सो भी सोना चाँदी व पलाशादि लकड़ी का हो। एक आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि सामग्री रखने का पात्र सोना चांदी या पूर्वोक्त लकड़ी का बनवा लेवे। एक जल का पात्र तथा एक चिमटा और पलादि की लकड़ी समिधा के लिए रख लेवे। पुनः घृत को गर्म कर छान लेवे। और एक सेर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक माशा केशर पीस के मिलाकर उक्त पात्र के तुल्य दूसरे पात्र में रख छोड़े। जब अग्निहोत्र करे तब शुद्ध स्थान में बैठ के पूर्वोक्त सामग्री पास रख लेवे। जल के पात्र में जल और घी के पात्र में एक छटाँक वा अधिक जितना सामर्थ्य हो उतने शोधे हुए घी को निकाल कर अग्नि में तपा के सामने रख लेवे। तथा चमचे को भी रख लेवे। पुनः उन्हीं

पलाशादि या चन्दनादि लकड़ियों को वेदी में रख कर उनमें आगी धर के पंखे से प्रदीप्त कर नीचे लिखे मन्त्रों में से एक एक मन्त्र से एक एक आहुति देता जाय, प्रातःकाल वा सायंकाल में। अथवा एक समय में करे तो सब मन्त्रों से सब आहुति किया करे।

अथाग्निहोमकरणार्था मन्त्राः ॥

सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा ॥
सूर्य्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥
ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योति स्वाहा ॥
सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या ।
जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥

एते चात्वारो मन्त्राः प्रातःकालस्य सन्तीति बोध्यम् ॥

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥
अग्निर्वर्च्चोज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥

अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रं मनसोच्चार्य तृतीयाहुतिर्देया ॥

सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या ।
जुषाणोऽग्निर्वेतु स्वा ॥ य० अ० ३ । मं० ९, १०॥

एते सायंकालस्य मन्त्राः सन्तीति वेदितव्यम्

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थास्समाना मन्त्राः ॥

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥

ओं आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥

ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा ॥

उपक्रमणिका

ब्रह्म यज्ञ की व्याख्या कर चुके इस यज्ञ में एक व्यक्ति का परमदेव परब्रह्म और उसकी वाणी वेद से संगती करण दिखा दिया गया। अब देवयज्ञ आरम्भ होता है इससे पहिले कि हम देवयज्ञ की पद्धति तथा मन्त्रों की व्याख्या करें यज्ञों के विषय में कुछ सामान्य बातों का वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है।

यज्ञ शब्द का अर्थ

यज्ञ शब्द यज् धातु से बना है। यज् धातु के तीन अर्थ हैं:—

[१] देव पूजा [२] सङ्गतीकरण [३] दान।

वस्तुतः देखा जाय तो संगतीकरण अर्थात् मिलाना ही यज्ञ का अर्थ है। मिलने के लिए कम से कम दो मिलने वाले होने

चाहिए। जब दो मिलने वाले परस्पर मिलेंगे तो उनमें यही व्यवहार होगा कि एक कुछ देगा और दूसरा लेगा लेने वाला देने वाले की पूजा करेगा और देने वाला देने के कारण देव कहलायेगा (देवोदानात्) सो यह देव-पूजा और दान ही परस्पर का व्यवहार है जिसके कारण सङ्गतीकरण अथवा संगठन होता है। अब देने वाले देव की भावना देते समय जितनी स्वार्थ रहित होगी उतनी ही पूजा भी सच्चे हृदय से होगी। इसलिए संगतीकरण भी उतना ही गहरा और चिरस्थायी होगा। इसीलिए यज्ञ में बारम्बार 'इदन्न मम' यह मेरा नहीं है। यह शब्द दोहराये जाते हैं।

यज्ञ और यज्ञ-नाटक

वस्तुतः देखा जाय तो अग्निहोत्र,पौर्णमास, अश्वमेधादि यज्ञ यज्ञ नहीं यज्ञ-नाटक हैं। यद्यपि इनमें घृत, अग्नि, सामग्री, समिधा आदि का सङ्गतीकरण है इसलिए यह भी यज्ञ हैं किन्तु यह समिधा, घृत, अग्नि, जलादि पदार्थ इसलिए इकट्ठे किये जाते हैं कि इनके द्वारा गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, राजा-प्रजा, ग्राहक-दूकानदार, स्वामी-सेवक आदि को परस्पर के व्यवहार की शिक्षा दी जाय। इसीलिए गीता में कहा है—नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम। गीता ४–३१ अर्थात् हे अर्जुन! जो यज्ञ नहीं करते उनको यही लोक प्राप्त नहीं होता तो परलोक क्या प्राप्त होगा। इससे स्पष्ट है कि यज्ञ का मुख्य सम्बन्ध इस लोक से है,

इन यज्ञ-नाटकों में जो मन्त्र पढ़े जाते हैं उनमें असली यज्ञ के उपदेश भरे रहते हैं।

यजमान

जब भी दो-चार, दस-बीस अथवा इससे अधिक मनुष्य परस्पर मिलकर कोई सङ्गठित कार्य करने की इच्छा करते हैं तो यह आवश्यक है कि वे अपने में से किसी को मुख्य कार्य्यकर्त्ता बनाकर उसके कहने में चलें, उसके सङ्कल्प की पूर्ति करें, बस इस मुख्य कार्य्यकर्त्ता को ही यज्ञ में यजमान कहा जाता है।

अग्नि

अग्नि के लिये वेद में कहा है आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा (यजु० ४-७) अर्थात् महान् उद्देश्य के लिए प्रबल वेग से धक्का देने वाले, आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा करने वाले दृढ़ सँकल्प का नाम अग्नि है और वह प्रशंसनीय है। बस यही यज्ञमें अग्नि है।

आचमन

जिस प्रकार अग्नि प्रकाश और गर्मी का प्रतिनिधि है इसी प्रकार जल शान्ति और पवित्रता का प्रतिनिधि है। मनुष्य का धर्म है कि हर एक महान् कार्य को आरम्भ करने से पहले और अपने साथियों को उसमें सहयोग देने के लिए निमन्त्रित करने से पहले उस संकल्प पर शान्त चित्त होकर विचार करे और यदि उसमें कोई थोड़ी-सी भी अपवित्रता हो तो उसे निकालकर बाहर कर दे, यही आचमन किया का तात्पर्य है।

आचमन के ३ मन्त्र

ओ३म् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ।

ओ३म् अमृतापिधानमसि स्वाहा ।

ओ३म् सत्यं यशः श्रीर्मयिश्रीः श्रयताम् स्वाहा ।

इनका सीधा अर्थ यह है कि प्रथम आचमन अमृत का उपस्तरण अर्थात् बिछौना है ।

दूसरा आचमन अमृत का अपिधान अर्थात् ओढ़ना है ।

तीसरे आचमन में अमृत का रूप दिखाया है अर्थात् सत्य यश और श्री यह तीन अमृत हैं इनमें से कोई एक मेरे हृदय में इस ओढ़ने और बिछौने के बीच शयन करे । सत्य ब्राह्मण का अमृत है । ब्राह्मण का प्रण है कि मैं अपनी जान देकर भी सत्य को न मरने दूँ वह अमृत रहे इसलिए सत्य ब्राह्मण का अमृत है ।

क्षत्रिय का प्रण है कि मैं प्राण देकर भी यश की रक्षा करूँ । मुझ पर यह कलङ्क कभी न आने पाए कि मैंने न्याय की रक्षा नहीं की । क्षत्रिय का धर्म केवल न्याय करना नहीं किन्तु प्रजाको यह विश्वास दिलाना कि वह न्याय कर रहा है यह भी उसका धर्म है । इसलिए यश उसका अमृत है ।

श्री शब्द श्रिञ्ये धातु से बना है । श्रिञ्ये का अर्थ है आश्रय देना । जिस मनुष्य के पास एकलक्ष रुपया भी हो किन्तु उसने कभी किसी पुण्य कार्य को आश्रय न दिया हो तो वह धनपति कहला सकता है श्रीपति नहीं । श्री तो उसी धन का नाम है

जिसके द्वारा किसी पुण्य कार्य को आश्रय दिया जाय। यह श्री वैश्य का अमृत है। वैश्य अपने प्राण देकर भी इस श्री को नहीं मरने देता।

अब इन तीनों सत्य, यश और श्री का ओढ़ना और बिछौना प्राप्ति मार्ग और प्रयोग मार्ग दोनों ही पवित्र हों और शान्ति से युक्त हों यही आचमन क्रिया का तात्पर्य है। जब एक प्रण कर लिया फिर तो उसे निभाना ही चाहिए। किन्तु प्रण करने से पहले खूब ठण्डे दिल से विचार लेना चाहिए जिससे पीछे पछताना न पड़े।

समिधा

यजमान के सहयोगी कार्य्यकर्त्ता समिधा कहलाते हैं। उनका कर्त्तव्य है कि अपने आपको आहुति करके भी अग्नि की रक्षा करें। इस लिये सबसे पहली समिधा यजमान अपने आप को बनाता है। वह कहता है 'अयं त इदध्म आत्मा जात वेदः' हे अग्नि तेरे लिये सबसे पहला इन्धन अयम् आत्मा, यह यजमान अपने आप है। जहाँ कठिन समय आने पर लोग दूसरों से कहते हैं कि तुम आगे बढ़ो और चुप चाप पीछे छिप कर बैठ जाते हैं वे यज्ञ सफल नहीं होते। जो यजमान यज्ञ में सबसे पहले अपने आपको आहुति करने को तैयार रहते हैं उनकी अग्नि सदा अमर रहती है।

ऋत्विज्

ऋतु उस समय को कहते हैं जो किसी कार्य्यकर्त्ता ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये किसी एक विशेष कार्य्य के लिये नियत किया हो। उदाहरण के लिये चावल पकाने में—धान कूटना, धोना, आग जलाना, पानी रखना और पकाना यह पांच अंग है सो इन पाँच कार्य्यों के लिये नियत समय को चावल पकाने की पाँच ऋतु कहेंगे। ऋत्विज् उस मनुष्य को कहते हैं जो अन्धाधुन्ध कार्य न करके अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये पहले ठीक ठीक समय विभाग बनाकर फिर उसका पूर्ण रूप से पालन करे अंग्रेजी भाषा में ऐसे मनुष्य को Punctual कहते हैं किन्तु Punctual में समय विभाग के बनाने का भाव इतना विशेष रूपेण नहीं है जितना समय पालन का भाव है। ऋत्विज् में दोनों भाव स्पष्ट दीखते हैं। इसीलिये यह शब्द अति सुन्दर है।

चार ऋत्विज्

यों तो बड़े यज्ञों में ऋत्विजों की संख्या १६ तक पहुँच जाती है किन्तु साधारण यज्ञों में चार ऋत्विज् होते हैं। इनके नाम—होता, अध्वर्य्यु, उद्गाता और ब्रह्मा यह चार होते हैं।

छः आसन

भगवान् पतञ्जलि ने कहा है, 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गेलोके काम धुग्भवति।' अर्थात् वेदवाणी की महिमा

अपार है उसके एक शब्द को भी ठीक ठीक जान कर उसे यदि भली प्रकार प्रयोग में ले आवें तो वह एक शब्द ही कामधेनु हो जाता है। सो यदि हम यज्ञ विद्या की ओर ध्यान दें तो यह बात बिलकुल यथार्थ प्रतीत होती है। आप यज्ञशाला में प्रवेश कीजिये आपको छः आसन मिलेंगे पूर्वाभिमुख यजमान का आसन है उनके साथ ही होता का आसन है। दाहिनी ओर यजमान की पत्नी है और उस ओर ही ब्रह्मा जी का आसन है यजमान के सामने उद्गाता तथा बांईं ओर अध्वर्य्यु है। यह छः आसन यज्ञशाला में बिछे हैं। देखने में अति साधारण सी बात है। किन्तु यदि हम इन छः आसनों का मर्म्म जान लें तो वर्तमान युगमें पूंजीपति और श्रमजीवियों के जितने कलह देखने में आते हैं सब दूरहो जावें। यही नहीं जब कभी किसी संगठित कार्य्य करने वाले को अपने उद्देश्य की पूर्तिमें बाधा उपस्थितहो तब वह झटपट इस बात का पता लगा सकता है कि मुझे सफलता क्यों नहीं हुई। क्योंकि उसको सफलता क्यों नहीं हुई इसका उत्तर इन छहों आसनों में से कोई न कोई अवश्य देगा।

आइये इन छहों आसनों पर बैठ कर कौन क्या करते हैं इसको जानें। सबसे पहले यजमान को लीजिए यजमान का आसन संकल्प का आसन है। इस आसन पर बैठकर यजमान संकल्प करता है कि इस तिथि इस दिन इस समय अमुक लोक हितकारी उद्देश्य की पूर्ति के लिये मैं अमुक यज्ञ करूँगा। इस क्रिया की क्या महिमा है सबसे प्रथम इसको ही देखना चाहिये

और फिर उस कसौटी पर अपने जीवन को कस कर देखना चाहिए। आप एक बड़ी दूकान के मालिक हैं २० कर्मचारी आपकी इस दूकान पर काम करते हैं। आप यजमान हैं वे आपके कार्य्यकर्त्ता, यह एक छोटा सा यज्ञ है।

जिसमें से ५००) रुपया मासिक आपको बचता है। यह ५००) रुपया आप क्यों बचाते हैं। आप अभी इस बचत को एक हजार तक पहुँचाना चाहते हैं पर मैं आपसे पूछता हूँ क्यों? मैं हो नहीं आपके कर्मचारी भी पूछते हैं आप झुंझला कर कहते हैं तुम अपने पैसे लो और अपना काम करो तुम्हें इससे क्या मतलब। यह इतना रूखा जवाब आप इसलिए देते हैं कि आप संकल्प की महिमा नहीं जानते। अब आइये कुछ और दृश्य देखिये।

यह कुछ सरदारों के साथ जङ्गल में कौन बैठे हैं? यह राणा प्रताप हैं। आज इस वन में हैं तो कल उसमें, आज इस घाटी पर हैं तो कल उस पर. राज्य छोड़कर वन वन और झाड़ी झाड़ी की ओर छिपे भाग रहे हैं। इनके साथी सरदारों का भी यही हाल है। भूख प्यास, आँधी पानी और ऊपर से शत्रु सब ही इनको सताते हैं परन्तु फिर भी सब के चेहरे चमक रहे हैं। वह चमक किसकी है? स्वाधीनता की रक्षाके पवित्र संकल्प की, इन्होंने अपने सरदारों से यह नहीं कहा था कि तुम्हें इससे क्या मतलब? यह कौन हैं? यह दो सौ जंगली मावलों की छोटीसी टुकड़ी के बीच भविष्यकाल के छत्रपति शिवाजी खड़े हैं। आप

की दुकान के कर्मचारी पारितोषिक मिलने पर भी प्रसन्न नहीं होते, दूसरी ओर इन्हें सहस्र भुजाओं में मृत्यु ही मृत्यु लिए भीषण मुग़ल साम्राज्य सामने खड़ा डरा रहा है और यह अनपढ़ जंगली हँस रहे हैं। क्यों ? इसलिए कि इस यज्ञ के यजमान ने अपना धर्म रक्षा का पवित्र संकल्प इन्हें बता दिया है।

यह सामने कौन है ? यह मुट्ठी भर हड्डियों का ढेर गांधी है ! भला इसी ओर देखिये। संकल्प छिपाना तो दूर रहा यह तो पहले से ही चिल्लाकर कह रहा है भाइयो जेल चलना है। चलोगे ? और यह ७० सहस्र नरनारी किस उत्साह से कह रहे हैं "क्यों नहीं चलेंगे ?" आपके कर्मचारी पारितोषिक के लोभ से भी दूकान में एक घंटा बिजली के पंखे के नीचे भी और अधिक बैठने को तैयार नहीं और इस गांधी के साथ जेल की कोठरियों में सड़ने को तैयार हैं। क्यों ? उसी देश की स्वतन्त्रता के संकल्प के बल से।

हे पूँजीपतियो ! क्या अब भी तुमने संकल्प की महिमा को नहीं समझा। यदि कमाने से पहले तुमने राष्ट्र की सेवा का कोई पवित्र संकल्प किया होता, यदि तुम्हारी कमाई का मुख्य भाग उस संकल्प की पूर्ति में लगता तो तुम्हारे कर्मचारियों को तुम्हारा ऐश्वर्य, तुम्हारा महल और तुम्हारी मोटर भी न अखरती। उन्हें तुम उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त वेतन भी दे देते तो कदाचित् वह पारितोषिक भी न मांगते। किन्तु तुम्हारा यज्ञ तो संकल्प हीन है। जो भाग तुम्हें

उनको देना था और जो सङ्कल्प-रूप अग्नि को देना था उन दोनों में से चोरी, भयङ्कर चोरी करके तुम अपनी कामाग्नि बुझाते हो इसलिए उनकी क्रोधाग्नि भड़कती है।

घबराओ मत ! तुमने संकल्प करके यज्ञ नहीं किया तो यज्ञ करके संकल्प कर लो। अब तो निश्चय करो कि तुम्हारी बचत का मुख्य भाग अग्निदेव और 'विश्वेदेवाः' को मिलेगा। राष्ट्रसेवा के किसी पवित्र संकल्प को और उसकी पूर्ति में सहायक कर्मचरियों और ग्राहकों को मिलेगा। वह संकल्प अग्नि है और ग्राहक और कर्मचारी वर्ग विश्वदेवा' हैं। इनका भाग चुराने वाला असुर है यजमान नहीं। ऐ पूँजी पतियो और राष्ट्रपतियो संकल्प की महिमा पहचानो। यह पहला आसन है। इसी की महिमा में कहा गया है "तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु।" याद रखना तुम्हारी बचत का मुख्य भाग अग्नि के लिए है, गौण भाग नहीं। तुम तो मुख्य क्या गौण भी नहीं देते। जरा यज्ञ का भाग देवों के ओठों पर लीप कर यजमान की पदवी पाना चाहते हो। यह ढोंग न चलेगा। मन को बदलो मन को ? संकल्प की महिमा पहिचानो

यह दूसरा आसन होता का आसन है। यह एक विचित्र जीव है। दिन रात ठोड़ी पकड़ कर कुछ सोचा करते हैं। यह भविष्य काल के देवता हैं। इनसे जब पूछिए तो यही कहेगें यसां हमारे कारखाने में इञ्जिन घर होगा, यहां जो श्रमजीवियों के मकान बनेंगे उसमें इस स्थानपर फुलवाड़ी लगेगी, यहां क्रीड़ा-

क्षेत्र होगा और यहां गौशाला होगी, यह नक्शा बड़े परिश्रम से तय्यार किया गया है, इससे पहले जितने नक्शे तय्यार हुए उनके अनुसार बनने वाले भवनों में जो त्रुटियां अनुभव से पता लगीं वह मेरे मानचित्र में न रहेंगी; मैंने जो संविधान तय्यार किया है उसमें एक-एक रेखा के लिये मैं प्रमाण उपस्थित कर सकता हूँ मैंने अन्धाधुन्ध कुछ नहीं लिखा है, मेरी एक-एक बात प्रमाण से पुष्ट है और वह अवश्य सुखदायक होगी। इनका वर्णन वेद ने इस प्रकार किया है 'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्।' यह अपनी एक-एक बात की पुष्टि ऋचाओं के बल से करके बैठे हैं। यह होता जी हैं।

अब यह अध्वर्यु जी आते हैं, इनका काम है ध्वर अर्थात् हिंसा न होने देना। होता जी की बनाई कार्य-प्रणाली का एक-एक अक्षर इन्हें एक-एक कामधेनु के समान प्यारा है फिर भला यज्ञ में उसकी हत्या कैसे होने देंगे। कहीं होता जी की भूल देखेंगे तो फिर दौड़े उन्हीं के पास जावेंगे, उन्हींसे ठीक करावेंगे, इनका काम तो है चलना और चलाना, यह यज्ञरूपी रथ का विमान करते हैं उसे Steer करते हैं इस नाप और इस अन्दाज से चलाते हैं कि कहीं टक्कर नहीं होने पाती। अगर सोचने का, स्कीम बनाने का बोझ भी इन पर डाल दिया जाता तो इनमें इतनी फुर्ती नजर न आती। सोच-विचार की उलझन आई और फुर्ती भगी. किन्तु यह तो फुर्ती की मूर्ति हैं। इस पर भी इन्हें अंधे या बुद्धिहीन न समझना। होता जी के गोरखधन्धे को

समझना और फुर्ती से समझना इन्हीं का काम है। इनका गुण है फुर्ती, सो समझने में भी फुर्तीले हैं कार्य करने में भी। वेद ने इनकी महिमा इस प्रकार गाई है, 'यज्ञस्यमात्रां विमिमीत उत्वः।' एक अपनी बातोंको पुष्ट करता है एक यज्ञ की निश्चित मात्रा को कार्य में ठीक उसी प्रकार परिणत करता है सो इनका नाम है अध्वर्यु जी।

अब यह आगे जो उद्गाता जी हैं इनका भी परिचय देना आवश्यक है। भाई इनकी मस्ती को बात न पूछो, गाते हैं, स्वयं गाते हैं सबसे गवाते हैं। गाते क्या हैं इनका अङ्ग-अङ्ग गाता है। संस्कृत भाषा में शरीर के अङ्गों को गात्र कहते हैं सो क्यों कहते हैं इन्हें देखने पर हो समझ में आता है। खूब पेट भर खाते हैं, भला खाएँ नहीं तो गाएँ कैसे, भूखे भजन न होई गोपाला। फिर डंड भी खूब पेलते हैं नहीं तो बदहजमी की मार पड़ी रहे फिर भला गावें कैसे? फिर तो वैद्य जी के द्वार पर रोया करें परन्तु यह तो गाते हैं। किन्तु इनका काम तो केवल गाना नहीं यह गाता नहीं उद्गाता है। यह उद् इनके साथ इसलिए जोड़ा गया है कि इनके साथ सब मिल कर गावें। जिस से इतना ऊँचा गाना उठे कि वह गगनचुम्बी हो जाय। इन्हें निरे गवैय्या न समझ लेना, यह रोना भी गजब का जानते हैं, यजमान से लेकर छोटेसे छोटे श्रमजीवी तक कोई रोया तो वह साथ रोयें, तब तक रोयेंगे जब तक वह गाने न लगे यह इस यज्ञ रूपी मशीन के तेल हैं। अगर यह न बोलें तो मशीन बोलने लगे और

थोड़े दिनों में बोलने लायक भी न रहे किन्तु इसके बोलने के कारण मशीन चुपचाप बिना आवाज़ दिये चलती है। आजकल के यज्ञों में जहां कहीं पूंजीपतियों और श्रमजीवियों की मशीन चूँ चूँ करती है वहां या तो उद्गाता हैं नहीं, या हैं तो नहीं के बराबर हैं। उद्गाता के बिना यज्ञ क्या ? इसीलिए कहा 'गायत्रं-त्वो गायति शक्करीषु।'

अब आगे चलिये यह ब्रह्माजी बैठे हैं। होता जी भविष्यकाल के देवता हैं। अध्वर्य्यु, उद्गाता वर्तमानकाल के। होताजी कहते थे यह होगा वह होगा। अध्वर्य्यु, उद्गाता कहते थे यों करो, यहां बिगड़ा है, यों चलाओ, यों खाओ, यों हँसो, यों गाओ। अब ब्रह्माजी भूतकाल के अधिष्ठाता हैं। इन्हें भूत प्रेतोंका अधिष्ठाता न समझ लेना। यह देखते हैं कि काम में भूल कहां हुई। सारे कारखाने का रत्ती-रत्ती भेद इन्हें पता है। क्योंकि कोई सोचता है, कोई दौड़ता है, कोई गाता है किन्तु यह मौन होकर बैठते हैं और देखा करते। याद रखना देखते हैं सोते नहीं, यह बोलते भी हैं। बोलते बहुत कम हैं पर जब बोलते हैं तो वज्र गिराते हैं। इन्हें यज्ञ की लाल झंडी कह सकते हैं। आप अपना काम ठीक ठाक किये जाइये और यह अपने मौन की मोहर लगाते जावेंगे किन्तु आपने जरा सी भूल की और यह बोले। ठहरो यहां भूल हुई। सारी गाड़ी खड़ी हो गई, भूल ठीक की गई इन्होंने गाड़ी को हरी झंडी दिखाई और फिर मौन फिर चुपचाप। भला होता जी तो ठहरे मस्तराम उन्हें अपनी स्कीम

में कभी दोष दीख सकता है। अध्वर्यु भी जो कर बैठे सो कर बैठे। अपने किये पर थोड़ा न थोड़ा पक्षपात बड़े बड़ोंको भी हो जाय तो आश्चर्य नहीं इसलिए ब्रह्माजी का आसन भी होना आवश्यक है। देखिये न, यह चुपचाप बैठते हैं फिर भी यज्ञ में सबसे बड़े कहलाते हैं। इन्हीं के लिए कहा 'ब्रह्मात्वोवदति-जातविद्याम्।'

अब आगे जो यह वात्सल्य की सुकुमार पवित्र मूर्ति है। यह यज्ञपत्नी है। यह अमृत का आसन है। यजमान के सारे सङ्कल्प यजमान तक ही रह जावें किन्तु जब यह यजमान की गोद में एक हँसता खेलता पुत्र लाकर रख देती है तो यजमान का सङ्कल्प अमर हो जाता है। ऐ जूते, कपड़े, कुर्सी, ऊखल, मूसल, थाली, पतीला आदि के कारखानों में काम करने वालो तुम जो जूते, कपड़े, कुर्सी और थालियां बनाकर अकड़ रहे हो हमने चमड़े में जान डाल दी, कपड़े में जान डाल दी, लकड़ी में जान डाल दी, पीतल में जान डाल दी, आओ अपनी माता के चरणों में सिर रखकर आशीर्वाद मांगो। तुमने तो चमड़े, कपड़े, लकड़ी, पीतल में कहने कहने का जान डाली है परन्तु उस वात्सल्यमयी जननी ने तो सचमुच तुम्हारे अन्दर जान डाली है। सिर्फ जान डाली नहीं, जान पाली भी है और किन कष्टों से पाली है। आओ इस अदिति को नमस्कार करें।

अन्त में यह मन्त्र का प्रसाद लीजियेः—

ऋचांत्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रंत्वोगायति शक्करीषु।
ब्रह्मात्वो वदतिजात विद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः॥

अग्नि और सूर्य्य

देवयज्ञ पद्धति के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रातःकाल के अग्नि होत्र की मुख्य आहुति सूर्य्यो ज्योति ज्योतिः सूर्य्य स्वाहा आदि चार मंत्र हैं और सायङ्काल के अग्नि होत्रकी अग्नि ज्योति ज्योतिः सूर्य्यः आदि चार मंत्र, इन मंत्रों में प्रातः-काल सूर्य्य देवता को आहुति है और रात्रि को अग्नि देवता, इन दो के समझने से ही अग्नि होत्र समझ में आ सकता है। अग्नि का अर्थ क्या है हम स्पष्ट बता चुके हैं। प्रत्येक मनुष्य के सामने वह आदर्श है कि वह अपने सत्य, यशः, श्रीः अथवा ब्राह्मणत्व, क्षत्रित्व और वैश्यत्व की अग्निको चमकाता चमकाता इतना चमकाये कि वह सूर्य के समान धुएँ से रहित होकर चमकने लगे किंतु चौबीस के चौबीस घण्टे अग्नि का एक समान जलना सम्भव नहीं। जिस प्रकार सूर्य भी थोड़ी देर के लिये छिप जाता है इस प्रकार मनुष्य को जब नींद आ जाती है तब अग्नि कार्य करती नहीं दीखती किंतु यज्ञ द्वारा यह उपदेश दिया जाता है कि जागते समय अपने सङ्कल्प की ऐसी लगन से सेवा करो कि वह निद्रा में भी सूर्य से घटकर अग्नि तक पहुँच जावे परन्तु बुझे नहीं फिर प्रातःकाल उठकर उसे होम आहु-तियों द्वारा इतना प्रज्वलित करो कि फिर सूर्य बन जावे।

शतपथ में अग्नि तथा सूर्य

सब यज्ञों का मूल सङ्कल्प अर्थात् उस उद्देश्य को पूर्ण करने का दृढ़ निश्चय है जिसके लिये किसी ने अपना जीवन अर्पण किया हो। प्राचीन काल में जो उपनयन पूर्व ब्राह्मणत्वादि वर्णों का सङ्कल्प ग्रहण किया जाता था वह इसी उद्देश्य से किया जाता था। किंतु संकल्प की सफलता अकेले मनुष्य के किये नहीं हो सकती। उसे विष्णु शक्ति की उपासना अवश्य करनी पड़ती है, जिसकी ओर मनसा परिक्रमा मन्त्रों में ध्रुवा-दिग्विष्णुरधिपतिः' इस मन्त्र में निर्देश किया गया है। प्रथम तो अकेला मनुष्य भी वास्तव में अकेला नहीं। मुखबाहूरुचरणादि अङ्गों के संगतीकरण के कारण वह भी वास्तव में यज्ञरूप है। किन्तु इस पुरुषरूप यज्ञ की अग्नि इसके साथ ही बुझ जाती है। यदि वह अपनी संकल्पाग्नि को स्थिर करना चाहेतो उसे कम से कम एक स्त्री के साथ यज्ञ (संगतीकरण) करना पड़ता है। जिससे अपने संकल्प को "ध्रुव" रखने के लिये वह सन्तानरूप में फिर प्रकट होता है। यह स्त्री पुरुष का जोड़ा ध्रुवता के निमित्त सबसे छोटा यज्ञ है। किंतु इस में भी कुछ न कुछ ध्रुवता अवश्य आजाती है। विष्णु नाम यज्ञ का है। यह स्त्री-पुरुष के सहयोग से उत्पन्न वामनतम विष्णु भी ध्रुवता अवश्य उत्पन्न करता है। अतएव कहा 'ध्रुवादिग्विष्णुरधिपतिः।'

परन्तु वह ध्रुवता भी पूरी ध्रुवता नहीं। क्योंकि हो सकता है गर्भाधान काल के किसी अपराध से, सन्तान की शिक्षा

समाप्त होने से पूर्व व्याधि-मरणादि उपद्रवों से, पूर्व दुष्कृतजन्य किसी दैव दुर्विपाक से, अथवा दुष्ट संगति के दोष से, सन्तान इच्छानुकूल न हो। अतएव किसी बड़े विष्णु की उपासना करनी उचित है। इसी भावना से मनुष्य की सङ्गठन-शक्ति ग्राम, नगर, जनपद, राष्ट्रादि के क्रम से सम्पूर्ण विश्व अथवा विराट् के संस्कार में प्रवृत होती है। यह आवश्यक नहीं कि अवश्य इन क्रमों में से होकर ही मनुष्य विराट् तक पहुँचते हैं। सुशिक्षा के प्रभाव से मनुष्य सीधा ही विराट् (Humanity) की उपासना करना सीख जाता है। यह विराट् ही विष्णु है। यही यज्ञ है। और इसी का फल परम ध्रुवता है। यज्ञ का मूल तत्त्व सहयोग संगतीकरण अथवा (Cooperation) है। ब्रह्मयज्ञ वैयक्तिक यज्ञ है। अर्थात् इस महाविष्णु के लिए पुरुष रूप यज्ञ अपने अन्दर क्या तय्यारी करे यह ब्रह्मयज्ञ अथवा संध्या में सिखाया गया। अब वह पुरुष रूप यज्ञ स्वयं एक महा-यज्ञ का अङ्ग है। उस महायज्ञ में प्रवृत होने के लिये उसे कौन-कौन से गुणों का विशेष रूप से अभ्यास करना होगा यह देवयज्ञ (अग्निहोत्र) में सिखाया गया है। अर्थात् इस यज्ञ में मनुष्य में लोक-हित कर्तव्यों (Public duties) के प्रति सच्चे आदर की भावना उत्पन्न की गई है। हम भारतवासियों को तो इस युग में इस यज्ञ के निरन्तर अभ्यास की अपेक्षा है। हमारे देश के वे लोग भी जो लाखों रुपये के व्यवहार में सच्चे, 'मातृवत् परदारेषु' के पूरे उपासक और स्नानादि कृत्यों में पूरे

नैष्ठिक हों, सभा में समय पर पहुँचने को एक अति तुच्छ बात समझते हैं। सड़क पर पेशाब करने अथवा जलाशय में कुल्ला करने में उन्हें सङ्कोच नहीं होता। यदि मनुस्मृति आदि ग्रन्थों को देखें तो उनमें स्पष्ट रूप से इन धर्मों का प्रतिपादन किया गया है परन्तु न जाने क्यों यह गुण हम में से सर्वथा लोप हो चुके हैं। बड़े सच्चे तथा वीर पुरुष ईर्ष्या के वश होकर सारे राष्ट्र का सर्वनाश करने को तैयार हो जावेंगे। उन्हें पैर के नीचे चींटी आती देखकर भय होगा। इस छोटे से किन्तु प्रत्यक्ष पाप से उन्हें दिन भर चैन मिलना कठिन हो जायगा। किन्तु राष्ट्र-द्रोह सरीखे कोटि-गुण किन्तु अप्रत्यक्ष पाप से उनकी निद्रा में तनिक सी बाधा भी न होगी। सारे राष्ट्र को बेचकर वे तृप्त होकर भोजन करेंगे और फिर फेनधवल शय्या पर टांग पसार कर सो जायेंगे। इस प्रकार के मनुष्यों को यह बारम्बार और नित्य अभ्यास कराने की आवश्यकता है कि वह कुटुम्ब के स्वार्थ को अपने स्वार्थ से, ग्राम के स्वार्थ को कुटुम्ब के स्वार्थ से, राष्ट्र के स्वार्थ को ग्राम स्वार्थ से, और विराट् अथवा विश्वराष्ट्र के स्वार्थ को एक राष्ट्र के स्वार्थ से सदा बड़ा समझें। उन्हें सदा याद रहे कि अन्ततोगत्वा राष्ट्र के स्वार्थ में ही उनके कुटुम्ब का और उनका भी स्वार्थ है। इसी तारतम्य को न जानने के कारण मूर्ख राजपूतों ने सेना के सामने खड़ी थोड़ी सी गौवों की रक्षा के लिये लाखों नर-नारियों और गौवों का घात करवा डाला। यदि वह श्रीकृष्ण सरीखे परम वैष्णव से कुछ सीखे होते तो

अन्याय के पक्ष में खड़ी गौवों की तो बात ही क्या,

"आचार्य्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहः"

को भी मरवा डालते। अब भी यदि आर्य-जाति के लोग चेतें तो कल्याण हो सकता है। परन्तु अभी तो यह लोग ऐसी निद्रा में लीन हैं कि हमारे अनेक विद्याओं के धुरन्धर पण्डित लोग भी जब इकट्ठे होकर चलें तो उनके पैर एक साथ नहीं उठते। हमारे गुरुकुलों में व्यूह रचना (Drill) की जो उपहसनीय दशा है वह इस बात का कितना अच्छा प्रमाण है कि हम कितने विष्णु-द्रोही हैं।

इस यज्ञ की, इस विष्णु की उपासना के लिये हम आज पाश्चात्य लोगों को आदर्श मान सकते हैं। हम यहाँ पटना के सुविख्यात प्रोफेसर यदुनाथ सरकार के लेख के कुछ अंश उद्धृत किये बिना नहीं रह सकते :—

The self-suppression in the individual that discipline implies and the marvellous difference in effect between discipl ne and frothy enthusiasm can be illustrated from the history of wars between Europеan races even.

Scene of the following incident was western Spain, the time July 1811, and the narrater William Hay, Ensign in the 52nd Light Infantry:—

"As we were marching in such extremely hot weather, we rested at noon, starting again later on, One afternoon we had to witness an act of diabolical tyranny. On the road was a stream of considerable depth, up to a man's middle. Our general, considering it more cooling and refreshing for the men, directed the first division to march through the water. The general, from his position on the bridge, observed two or three of the 95th take some water in their hands to cool their parched mouths, instantly the halt was sounded, ..the whole division formed into hollow square, and these unfortunate men paraded, stripped, and flogged". (*Reminiscences 1808-1815 under Wellington, by W. Hay, p. 33.*)

The soldiers who submitted to this iron discipline defeated every marshal of Napoleon and even Napoleon himself. I have not read of this particular British general having been shot from behind by the men of the 95th.

The same discipline resulted in the wonderful passive valour of the 93rd Highlanders :—

"On the 8th of January, 1815, the infantry were ordered to advance towards the American

lines (At New Orleans) for the purpose of assaulting the works. But again the great mistake was committed of advancing in close column of regiments in broad daylight, against a line of works one thousand yards in length, protected by a broad ditch and high breastwork from behind which, and perfectly under cover, the American riflemen were able to keep up a destructive fire.

"When the 93rd had got within eighty yards of the lines they were ordered to halt, and there, still in close column, were kept standing exposed to a withering fire, untill, out of strength of eight hundred men, 507 were killed and wounded before the regiment received an order to retire...I believe there is no more remarkable example on record of the power of discipline and it must be borne in mind that the 93rd Regiment was a young one, composed entirely of firy Highlanders, a race whose blood is easily stirred into rapid motion in the moment of battle" (*Records of Service and Campaigning by Surgeon-General Munro, ii. 7.)*

"सैनिक मर्यादा इस शब्द की तह में कितना भारी आत्म नियन्त्रण छिपा हुआ है, जोश के क्षणिक उबाल और

सैनिक मर्य्यादा के परिणामों में जो अन्तर है, उसके सजीव उदाहरण हमें योरोपीय जातियों के पारस्परिक संग्रामों के इतिहास में भी मिलते हैं।

"उल्लिख्यमान कथानक की दृश्य भूमि है पश्चिमीय स्पेन समय है १८११ की जुलाई और आख्याता हैं ५२ नम्बर पैदल पलटन के झण्डा-बरदार 'विलियम हे'। घटना यों है :—

"क्योंकि हम अति कठोर गरमी में यात्रा कर रहे थे, हमें दोपहर के समय में विश्राम करना पड़ता था जिसके पश्चात् हम फिर प्रस्थान करते थे। एक दिन हमें एक वीभत्स नृशंसता का दृश्य देखना पड़ा। मार्ग में एक नाला पड़ा जिसकी गहराई खासी थी कोई कमर तक होगी। हमारे सेनापति ने यह सोचकर कि नदी में से यात्रा करके पार होना सैनिकों के लिये बड़ा शीत-सुख-प्रद और आल्हादजनक होगा पहिले डिवीज़न को पानी में से चल कर पार होने की आज्ञा दी। सेनापति पुल पर से खड़े सारी सेना की चाल देख रहे थे। उन्होंने पुल पर से ६५ नम्बर रेजिमेण्ट के दो-चार सिपाहियों को अञ्जलि में ठण्डा जल लेकर सूखे हुए होठों पर लगाते पा लिया। उसी समय अवहार की आज्ञा हुई। सारा डिवीज़न वर्गाकार में खड़ा किया गया। बीच में थोड़ा स्थान खाली रक्खा गया। यह बेचारे सैनिक परेड करते वहां लाए गये। उनके कपड़े उतरवाए गए और बेंत लगाने की टिकटिकी पर कस दिये गए। जो सैनिक इस लोहमय शासन में से पार हो लेते थे उन्होंने अन्त को एक-एक

करके नेपोलियन के हर एक सेनापति को और अन्त में साक्षात् नेपोलियन को हराया तो इसमें अचम्भा क्या? फिर सब से बढ़कर अचम्भे की बात तो यह है कि इन सैनिकों में से किसी ने बिगड़ कर अपने सेनापति पर पीठ पीछे से गोली चलाई हो ऐसा कभी सुनने में नहीं आया।" (*Reminiscences 1808 1815 under Wellington, by W. Hay,*)

इसी सैनिक मर्यादा का चमत्कार ९३ नम्बर हाईलैंडज़ की प्रशान्त वीर मुद्रा में देखा गया। घटना यों है:—

' १८१५ की ८ जनवरी को न्यू ऑर्लियन्ज़ नामक स्थान पर पैदल सेना को अमेरिकन मोरचों के विरुद्ध यात्रा की आज्ञा हुई। परन्तु यहां फिर यही भूल हुई कि अमेरिकन लोगों की एक हज़ार गज़ लम्बी मोर्चाबन्दी के सामने जो एक चौड़ी खाई से और ऊंची दीवार से सुरक्षित थी और जहाँ से अमेरिकन बन्दूकची बड़ी दारुण बाढ़ चलती रख सकते थे, दोपहर के समय घनी पंक्तियों में आगे बढ़ने की आज्ञा दीगई।"

"ज्योंही ९३ नम्बर मोर्चों से ८० गज़ दूरी के अन्तर पर पहुँचे। उन्हें खड़े होने का आदेश दिया गया और उसी घने व्यूह में उस घातक बाढ़ की मार में खड़े रक्खे गये। इस पर अन्धेर यह कि उन्हें उत्तर देने की अनुज्ञा न थी। जब तक ८०० कुल रेजिमेंट की संख्या में से ५०७ हत और आहत हो लिये वे वहीं उसी भांति खड़े रहे और तब कहीं उन्हें लौट आने की आज्ञा मिली। मैं समझता हूँ सैनिक मर्यादा के प्रभाव

का इससे बढ़कर ज्वलन्त उदाहरण कहीं उल्लिखित न मिलेगा। साथ ही याद रहे कि इस रेजिमेंट के सिपाही प्रायः नई उमर के थे और उस पर वह सबके सब उग्र हाईलैंडर लोग थे जिनका रुधिर युद्धकाल में स्वभाव से ही तीव्र गति से प्रवाहित होने लगता है।"

(Records of Service and Campaigning by Surgen General Munro, अक्तूबर के १६२६ Modern Review में यदुनाथ सरकार के लेख से उद्धृत)।

इससे पता लगता है कि "संगच्छध्वम्" का पाठ पाश्चात्य लोगों ने कैसा अच्छा पढ़ा है। इस वैष्णव धर्म की परायणता का पता रुद्रकर्म अर्थात् युद्ध-काल में लगता है। इसका विशेष वर्णन हमारे लिखे "मरुत्" नामक निबन्ध में देखें। किन्तु यहां भी उदाहरण के लिये हम सेना शब्द को ले सकते हैं। इस शब्द का अर्थ है स+इना अर्थात् एक साथ पैर उठाकर चलने वाली। फिर इस शब्द के स्त्री-लिंग की ओर देखिये। यह स्त्री-लिंग भी कितना मार्मिक है। सेना शब्दका सम्बन्ध सेनापति शब्द के साथ है। सो तात्पर्य यह कि सुशिक्षित सैनिकों का समूह भी 'सेना" नहीं कहला सकता जब तक कि वह एक सेनापति की आज्ञा का इस प्रकार अनुवर्त्तन न करे जैसे एक पति-परायण साध्वी अपने पति की आज्ञा का अनुवर्त्तन करती है।

अब प्रश्न यह है कि यज्ञ-धर्मों का अभ्यास बिना किसी आदर्श को सामने रक्खे नहीं हो सकता। सो अपने सामने आदर्श कौन रक्खे जावें। उत्तर में हर एक देश के लोग अपने अपने देश के इतिहास से कुछ उदाहरण उपस्थित कर सकते हैं। किन्तु अनादिनिधना भगवती श्रौतवाणी किस का इतिहास सुनावे। बस यहाँ तो ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि ऋतु, सूर्य-चन्द्रादि देव जो यह संवत्सर रूप यज्ञ कर रहे हैं यही दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया जा सकता है और कर्तव्य पालन का दृष्टांत कोई सूर्य-चन्द्रादि से अच्छा और दे भी क्या? जो इतने नियम में चलने वाले हैं कि सैकड़ों वर्ष पहले कहा जा सकता है कि अमुक तिथि में अमुक स्थान से सूर्य इतने बजकर इतने मिनट इतने सैकण्ड पर अमुक स्थान पर दीखेगा और इतना ग्रहण इतने काल के लिये लगेगा। यही तो वैष्णव धर्म के सच्चे दृष्टान्त हैं। इसीलिए शतपथ ने कहा :—

स यः विष्णुर्यज्ञः स। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः। शत० १४. १. १. ६.

आदित्य का संकल्प के साथ एक और भी सम्बन्ध है। संकल्प सम्पूर्ण गति का जन्मदाता होने के कारण तैजस है। इधर आदित्य तो है ही इस सौर चक्र का सबसे बड़ा तेजः पुञ्ज इसलिये आदित्य का संकल्प से सम्बन्ध स्पष्ट है।

किन्तु एक बात विचारणीय है। सूर्य तो प्रभु के अग्निकुण्ड

की अग्नि है। मनुष्य को तो अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये अग्नि प्रज्वलित करनी पड़ती है। उसके अनेक उपचार करने पड़ते हैं। सूर्य उसके लिये आदर्श हो सकता है। परन्तु वह तो असह्य तेजोमय जाज्वल्यमान शाश्वत तेजोराशि है। मनुष्य को एक संकल्प को स्फुलिंग से तीव्र ज्वाला तक पहुँचाने में जो दृढ़ अध्यवसाय, जो सतत जागरूकता दिखानी पड़ती है उसका उपदेश कैसे दिया जाय।

इसी लिये इस देवयज्ञ का मुख्य पदार्थ अग्नि है। उस अग्नि को अविश्रान्त परिस्पन्द के द्वारा धीरे धीरे सूर्य की अवस्था तक पहुँचाना यही देवयज्ञ की सफलता है। इसी लिये कहा है :—

अग्निर्वै यज्ञस्यावराध्यो विष्णुः पराध्यः।

श० ५. २. ३. ६.

मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने संकल्पाग्नि को इतना स्थिर करे कि प्रातःकाल उठने के साथ ही वह सूर्य बन जाय और सूर्योदय के साथ साथ अधिकाधिक प्रतापवान् होता जाय। किन्तु रात्रि के शयनकाल में भी अग्निरूप तो अवश्य रहे। तात्पर्य यह है कि रात्रिके अहङ्कार (Subconcious self) के अन्दर भी वह संकल्प जाग ही रहा हो। बुझे कभी नहीं। निद्रा में भी न बुझे।

इसी लिये सोमयाग में दीक्षित होने के समय कहता है :—

अग्ने त्व ँ सुजागृहि वय ँ सुमन्दिषीमहि ।
रक्षाणो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥

यजु० ४. १४. । शत० ३. २. २. २२.

"हे अग्ने हम सानन्द सोएं, पर तू जाग और अप्रमत्त होकर हमारी रक्षा कर और फिर जगा।"

क्या हमने अनेक परीक्षण करके नहीं देखा कि दृढ़ संकल्प हमें ठीक समय पर जगा देता है ?

यही कारण है कि प्रातःकाल अग्निहोत्र के मुख्य मन्त्रों में "सूर्यो ज्योतिः" कहा है और सायंकाल के मन्त्रों में "अग्निः ज्योतिः"। अग्नि और सूर्य दोनों ही तो तेज हैं। इनमें भेद क्या है। एक अवरार्ध्य है दूसरा परार्ध्य। सुषुप्तावस्था की संकल्पाग्नि में जागृतावस्था की तीव्र चेष्टा सम्मिलित हो जाती है तो वह सूर्य हो जाता है। आज कल के संकल्पहीन लोग प्रथम तो लुप्ताग्नि हैं, और यदि अचानक कहीं अग्नि हो भी तो भी एक केन्द्र न होने के कारण मन्दाग्नि तो होते ही हैं। इसलिये आवश्यक है उन्हें अग्न्याधान, अग्निसमिन्धन, अग्निपर्युक्षणादि की शिक्षा दी जाय। जिससे उनकी अग्नि सूर्य-भाव को धारण कर सके। बस यही शिक्षा इस देवयज्ञ में दी गई है। वह किस प्रकार दी गई है यह आगे मन्त्रों की व्याख्या में दिखायेंगे। किन्तु पहले इस विषय के मौलिक सिद्धांतों का निरीक्षण कर लें।

१. उद्देश्य प्रणिधान

यज्ञ—विष्णु—संगठन का सबसे पहिला मौलिक सिद्धान्त है,—'हर एक यज्ञ देवता का समान उद्देश्य के लिये अपने आपको अर्पण करना।" संगठन का अर्थ ही है परस्पर मिलना। सो यह उद्देश्य ही उनको आपस में मिलाता है। इस समान उद्देश्य के लिये अपने आपको अर्पण करने की भावना को ही हम यज्ञ भावना अथवा उद्देश्य प्रणिधान के नाम से पुकार सकते हैं।

२. ईर्ष्या-विजय

यज्ञ भावना का सबसे बड़ा शत्रु ईर्ष्या है। किन्तु ईर्ष्या भी वास्तव में स्वार्थ का ही रूपान्तर है। यह उद्देश्य प्रणिधान ईर्ष्या के विजय में किस प्रकार सहायक होता है यह दृष्टान्त से समझाया जा सकता है।

कहते हैं कि एक समय एक राजा के दरबार में दो स्त्रियाँ एक बच्चे के विषय में झगड़ा करती हुई उपस्थित हुईं। दोनों उस बच्चे को अपना कहती थीं। महाराज कई दिन तक यत्न करने पर भी इसका निर्णय न कर सके। अन्त को एक दिन उन्हें चिन्तित देखकर रानी ने चिन्ता का कारण पूछा। महाराज ने सब वृतांत कह सुनाया। वृतांत सुनकर रानी मुस्करा कर बोली कि देव! यह अभियोग स्त्री-जाति का है इसका निर्णय मैं स्वयं करूँगी।

अगले दिन महारानी स्वयं सिंहासन पर विराजमान हुई। दोनों स्त्रियें सामने लाई गईं। महारानी ने निर्णय दे दिया—"आराकश को बुलाकर इस बच्चे को बीचों-बीच चीर कर आधा-आधा बांट दिया जाय।" निर्णय सुनकर दोनों में से एक बड़ी प्रसन्न हुई। बोल उठी, क्या अच्छा निर्णय हुआ है, झगड़ा ही न रहा। दूसरी सहम गई, बोली—मुझे बच्चा नहीं चाहिये, मैंने अपना दावा छोड़ा, पर इसे चीरो मत।

रानी ने कहा जाओ बच्चा उसे दे दो जो कहती है मेरा नहीं। वही सच्ची मां है जिसे बच्चे की जान अपने अधिकार से अधिक प्यारी है।

वही सच्चा सिपाही है जिसे संगठन का उद्देश्य अपनी जान, अपने यश, अपने अधिकार से भी प्यारा है। इसी का नाम है उद्देश्य-प्रणिधान। यह संगठन का मूल मन्त्र है।

३. "विश्वेदेवाः यजमानश्च"

किन्तु एक उद्देश्य के लिए प्रणिधान करने वाले, सब कुछ अर्पण करने वाले, देवों का समूह यज्ञ नहीं कहाता। उद्देश्य की अग्नि से आगे भी उसे किसी वस्तु की अपेक्षा है। वह है क्रम (Order)। जिस संगठन में सब के सब नेता हों, वे सब बलिदान के अवतार क्यों न हों, अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते। जब तक वे एक को बड़ा बना कर उसके शासन में नहीं चलते तब तक क्रम-व्यवस्था अथवा यज्ञ-मर्यादा उन में नहीं

आती। यज्ञ का यजमान अवश्य चाहिए। चारों वेदों का ज्ञाता ब्रह्मा भी वहाँ बैठा हो परन्तु यजमान फिर भी चाहिए। ब्रह्मादि "विश्वेदेवा:" उसके द्वारा ही यज्ञ को सफल बनाते हैं।

इनमें परस्पर सम्बन्ध क्या है? वह है देवपूजा और दान। ऋत्विक् यजमान के 'पूज्य' हैं और वे उसे यज्ञ प्रक्रिया के ज्ञान का 'दान' देते हैं। इसी लिये तो वे देव हैं।

यजमान ऋत्विजों का पूज्य है, वे उसकी सदुपदेश द्वारा पूजा करते हैं, वह उन्हें दक्षिणा देता है। इसी लिये वह देव है। (यजमान देव, देखो सायण अथर्व भाष्य ७. ५. ५.

यह परस्पर पूज्य-पूजक भाव ही वस्तुतः संगती-करण है। इसीलिये कहा है :—

"यज देवपूजासंगतीकरणदानेषु।"

और इसीलिये शतपथ में कहा है :—

असुराः स्वेष्वेवास्येषु जुह्वतश्चेरुः अथ देवाः अन्योन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेरुः।

(शत० ११. १. ८. १-२)

इसलिये अग्निहोत्र के दूसरे मन्त्र में कहा गया है :—

अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत।

इस मिल बैठने के स्थान में "सब देव और यजमान बैठो।" यही यजमान का अन्य देवों से पृथक्-करण संगठन के इस

मौलिक रहस्य को बता रहा है कि जब तक एक शासन करने वाला पृथक् न हो, यज्ञ नहीं हो सकता।

४. अनासक्ति

यहां तक तो यज्ञ के आरम्भ का वर्णन हुआ। किन्तु बहुधा देखा जाता है कि यज्ञारम्भ में उद्देश्य-प्रणिधान की भावना से कार्य करके भी फल प्राप्ति होने पर लोग मदोन्मत्त हो जाते हैं। इसलिये आवश्यकता है कि फल प्राप्ति होने पर भी मनुष्य उस फल को अपना न समझे। यही बात यज्ञमात्र में बारम्बार "इदन्न मम" कह कर दोहराई जाती है और फिर भी कल्पसूत्रकार नहीं थकते। यह प्राप्त फल में आसक्त न होना यज्ञ का चौथा मौलिक सिद्धान्त है।

५. निचुम्पुण भावना

हमारे संगठनों की निष्फलता का एक कारण फलातुरता है। हम आरम्भशूर हैं। प्रथम ही बड़े फल की आशा से हल्ले के साथ कार्य आरम्भ करते हैं। किन्तु उतना शीघ्र फल न मिलने से थोड़े दिन में हताश हो कर बैठ जाते हैं। वेद कहता है :—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धास उद्भिदः।

(ऋग्० १. ८९. १.)

अर्थात् हमारे सब कार्य उद्भिद् हों। जिस प्रकार वृक्ष पहिले बीज मात्र और फिर अंकुर शाखा प्रशाखा क्रम से ऊपर

की ओर बढ़ते हैं। इसी प्रकार पहिले छोटे हों और फिर धीरे-धीरे बढ़ते जावें। इससे उलटा न हो।

इसीलिये कहा है :—

निचेरुरसि निचुम्पुणः (यजु० ८. २७.)

"हे यज्ञ को समाप्ति तक पहुँचाने वाले धीर यजमान तू इसलिये सफल हुआ है क्योंकि तू धैर्य-पूर्वक चुपचाप (चुप मन्दायाङ्गबौ, निचुम्पुणः) मन्दगति से चलता गया है। किन्तु चलता अवश्य गया है। यह निचेरु और निचुम्पुण का संयोग ही तेरी सफलता का कारण हुआ है।"

अग्निहोत्र में इसी भाव को सामने रख कर हवन कुण्ड की रचना नीचे से छोटी और ऊपर से चौड़ी 'उद्भिद्' (Growing upwords) की गई है। इसीलिये जो हवन कुण्ड को उलटा करते हैं अर्थात् आरम्भशूर और परिणामभीरु होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं।

६. अदब्धता

यज्ञ का अगला तत्त्व अदब्धता है। अदब्धता का अर्थ है—किसी कार्य को पूरा करने के लिये जितना कम-से-कम समय लगे और जितनी कम-से-कम सामग्री व्यय हो उतना ही करना यज्ञ का धर्म है। जो ऐसा नहीं करता वह यज्ञांश की चोरी करता है। यह भाव यज्ञ में सीधी रेखा द्वारा दिखाया गया है। यदि किसी कार्य के करने में जो कम-से-कम समय

अथवा सामग्री अपेक्षित हो उसे शुल्वतन्त्र से (Graphically) दिखाना हो तो दो बिन्दुओं के बीच जो सबसे छोटी रेखा अर्थात् सीधी रेखा है उसी के द्वारा दिखाया जा सकता है। यही बात वेद में इस प्रकार कही गई है :—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो अदब्धास उद्भिदः।
(ऋ० १. ८. १.)

अर्थात्—"हमारे यज्ञ उद्भिद् हों और चारों ओर से अदब्ध (Uncrooked) हों।" इसीलिये यज्ञ कुण्ड वर्गाकार बनाया गया है। कुण्ड का चित्र देखिये :—
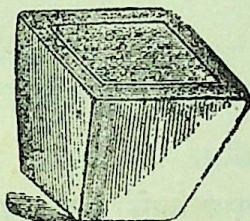
७. वषट्कार और स्वाहाकार

कर्म किस प्रकार करना चाहिए ? इसका उत्तर है 'स्वाहा' अर्थात् हर एक आहुति इस प्रकार दी जानी चाहिये कि पीछे

से कर्त्ता सु+आह, ठीक होगया, ऐसा कह सके। यह स्वाहाकार ही जर्मनी का Cult of efficiency है। स्वाहाकार तक पहुँचने के दो मार्ग हैं। स्विष्टकार और वषट्कार। वषट्कार का अर्थ है। Thoroughness अर्थात् अधकचरा काम करके सन्तुष्ट न हो जाना। चाहे एक दीवार को तोड़ कर दस बार बनाना पड़े, परन्तु बने पूरी माप के अनुकूल। इस Attention to detail द्वारा कार्य को पूर्णता तक पहुँचाने का नाम वषट्कार है।

वषट्कार का स्वरूप ब्राह्मणों में इस प्रकार है—

वज्रो वै वषट्कारः। श० १. ३. ३. १४.

देवपात्रं वा एष यद् वषट्कारः। श० १. ७. २. १३.

एते वै वषट्कारस्य प्रियतमे तनू यदोजश्च सहश्च।

कौ० ३. ५.

ओजश्च वै सहश्च वषट्कारस्य प्रियतमे तन्वौ।

ऐ० ३. ८.

जिसके कारण काम करने में एक मस्ती आती है, जो आराम से बैठे वीर पुरुषों को संकट को निमन्त्रण देने के लिये प्रेरणा करती है, उस शक्ति का नाम ओज है। जिससे विघ्नों पर विघ्न पड़ने पर भी, सम्पूर्ण साथियों द्वारा छोड़े जाने पर भी, मनुष्य दांत भींचकर अकेला लगा रहता है उस शक्ति का नाम सहः है। एक भड़कीली और तीव्रगामिनी है, दूसरी

अड़ियल। किसी कार्य को परिपूर्णता तक पहुँचाने के लिये इन दोनों गुणों की आवश्यकता होती है। कई मनुष्यों में सहः तो होता है परन्तु ओज नहीं होता। अतः वे एक ही पुरानी चाल को कोल्हू के बैल की तरह ढोए लिये जाते हैं। उनका धैर्य्य प्रशंसनीय है। परन्तु उनमें उड़ान नहीं। वे सहस्वी हैं, ओजस्वी नहीं। दूसरी ओर कई लोग नई उड़ान लेते हैं, एक बार संसार को चकित करके चौंधिया कर उल्कापात की तरह व्योम में विलीन हो जाते हैं। वे ओजस्वी हैं सहस्वी नहीं। किन्तु वषट्कार के लिये, सर्वाङ्ग सम्पन्नता के लिये, यह दोनों ही गुण अपेक्षित हैं। अतः कहा कि—

एते वै वषट्कारस्य प्रियतमे तनू यदोजश्च सहश्च

ओजः के कारण मनुष्य नवीनता उत्पन्न करता है। वषट्कार द्वारा परखता है, देखता है, ठीक नहीं बना तो फिर वह घबरा नहीं उठता उसे तोड़ डालता है। इसलिए कहा—'वज्रो वै वषट्कारः।' अब तोड़कर फिर बनाने चला। जब वह परिपूर्ण हो गया तो अब वह बनाने वाले की प्रतिभा का पात्र है। जिस देवता के लिये बनाया गया था उसके सामने कर्त्ता की प्रतिमा इस पात्र में छलकती हुई आती है। और देवता कहता है कि 'सर्वं वै पूर्णम्।' इसीलिये कहा—'देवपात्रं वा एष वषट्कारः।' अब इसके साथ ही स्विष्टकार का भी अर्थ सुनियेः—

८. स्विष्टकार

वषट्कार के साथ ही जो दूसरी भावना लगी है। वह है स्विष्टकार। वषट्कार का भाव है कि कोई अङ्ग छूट न जावे, कार्य सर्वाङ्ग सम्पन्न हो। स्विष्टकार का अर्थ है कि नियत क्रम से न्यून अथवा अधिक न हो। इसे अंग्रेजी भाषा में Accuracy अथवा Exactitude कहते हैं। दूसरी ओर वषट्कार का भाव है Thouroghness यह दोनों मिलकर स्वाहाकार(Efficiency) उत्पन्न करते हैं। स्विष्टकार का भाव स्विष्टकृत् मन्त्र में स्पष्ट है:—

यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचम् यद्वा न्यूनमिहाकरम् अग्निष्टत् स्विष्टकृद्विद्यात्।

"अग्नि स्विष्टकृत् है, मैंने यदि इस कार्य में कुछ अधिक किया अथवा न्यून किया तो उसे स्विष्टकृत् अग्नि जाने।"

यहां स्विष्टकृत् स्पष्ट ही न्यून तथा अतिरिक्त का विरोधी होकर आया है। इससे स्पष्ट है कि स्विष्ट का अर्थ Exact है। कदाचित् यह Exact शब्द उत्पन्न ही स्विष्ट से हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। खैर यह अपभ्रंश शास्त्र (Philology) के जानने वाले जाने। हमें तो यहाँ स्विष्ट का अर्थ बताना अभीष्ट था सो स्पष्ट कर दिया।

इस प्रकार संकल्पाग्नि, उद्देश्य प्रणिधान, ईर्ष्या-विजय, पूज्य-पूजक-भाव, अनासक्ति, अदब्धता, निचुम्पुण भावना, स्विष्टकार, वषट्कार तथा स्वाहाकार की व्याख्या करके यज्ञ-चक्र की ओर

आते हैं, जिसमें दिखाया जायगा कि छोटे यज्ञ का बड़े यज्ञ के साथ क्या सम्बन्ध है:—

६. यज्ञ-चक्र

यज्ञ का अर्थ सङ्गठन है। परन्तु डाकुओं का सङ्गठन भी तो अन्त को सङ्गठन ही है, तो क्या उसे भी यज्ञ कहना चाहिये उत्तर में हम यही कह सकते हैं कि एक अंश में वह भी यज्ञ है। जिस अंश तक हर एक डाकू अपने स्वार्थ को अपने दल के लिये बलिदान कर रहा है उस अंश तक यह भी एक छोटा-सा यज्ञ है। परन्तु यह दूषित यज्ञ है। क्योंकि यह अपने से एक बड़े यज्ञ का अर्थात् राष्ट्र अथवा मानव-समाज के हित का विघात करता है। इसी प्रकार एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर बलपूर्वक राज्य करने के लिये जाना भी एक यज्ञ है। परन्तु यह भी दूषित यज्ञ हैं। क्योंकि जहांतक प्रत्येक राष्ट्र का सैनिक अपने राष्ट्र के हित के लिये अपने आपको बलिदान करता है वहाँ तक वह यज्ञ करता है। किन्तु जब वह दूसरे राष्ट्रों का विघात करता है तो वह विश्व के विशाल राष्ट्र के हित का नाश करता है इसलिये इस अंश में वह दूषित है।

अब हमें एक कसौटी प्राप्त हो गई जिससे हम किसी भी यज्ञ में कितना वास्तविक यज्ञांश है यह अच्छी प्रकार जान सकते । वह कसौटी यज्ञ-चक्र की है। इस ब्रह्माण्ड में ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि भिन्न-भिन्न ऋतु एक दूसरे के सहायक होकर

संसार रूपी यज्ञ कर रहे हैं—अर्थात् उत्तम अनाज आदि सत्य सम्पत्ति तथा फल फूल आदि द्वारा इस धरती को बसा रहे हैं। यही संवत्सर का अर्थ है। "सम्" का अर्थ है "एक साथ मिल कर" और "वत्सर" का अर्थ है बसने वाला। यदि इस संसार में केवल ग्रीष्म ऋतु ही होती तो यह संसार झुलस जाता, यदि केवल शरद् होती तो सब कुछ दबा-का-दबा रहता। परन्तु अब यही तीनों ऋतु एक दूसरे की सहायता करती हैं। ग्रीष्म से संसार की सफाई होती है और सड़ांद का नाश होता है, सम्पूर्ण दोष भस्मीभूत होते हैं और फिर उससे चारों ओर हरियावल छा जाती है, बीज से अंकुर, अंकुर से पल्लव, पल्लव से शाखा, शाखा से फल, चारों ओर वृद्धि ही वृद्धि दिखाई देती है। परन्तु यह हरियावल कभी परिपाक को प्राप्त न हो और नई उत्पादक शक्ति सञ्चय न कर सके, यदि शरद् ऋतु कुछ काल के लिए विश्राम देने न आ जाये। शरद् का संवत्सर यज्ञ में वही स्थान है जो शरीर में निद्रा का। इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड के अन्दर जो विशाल यज्ञ हो रहा है उसमें जो सस्य सम्पत्ति और फल-फूल उत्पन्न हुए उनका भोजनशाला में आकर सङ्गठन हुआ। आटा आग्नेय पदार्थ था, जल सौम्य था, घृत अग्नीषोमीय था। इनके साथ अग्नि का संयोग हुआ। सबने मिलकर जो यज्ञ किया, उससे उत्तम भोजन उत्पन्न हुआ। उस भोजन को खाने के लिए शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों ने व्यायाम द्वारा अग्नि उत्पन्न की। नेत्र, रसना आदि ब्राह्मणों ने

उसकी पड़ताल की, दांतों ने पेषण किया, जिह्वा ने पाचक रस प्रदान किया, इसी प्रकार सारे राष्ट्र ने मिलकर वीर्य्य का बिन्दु उत्पन्न किया। उसे ग्रहण करने के लिए किसी सवर्ण युवती ने अग्नि उत्पन्न की। उसमें आहुति होकर एक बालक उत्पन्न हुआ। बालक ने अपने आपको राष्ट्र के लिये अर्पण किया। राष्ट्र ने अपने आपको मानव विश्व के अर्पण किया। मानव विश्व ने अपना कार्य ऐसी सुव्यवस्था से चलाया कि जिससे लता, वृक्ष, वनस्पति, पशु, पक्षी, जल, वायु आदि में किसी का अनुचित उपघात न हुआ और दोषों का नाश हुआ। तो अब यह पुरुष जिसे ब्रह्माण्ड यज्ञ ने पैदा किया था फिर ब्रह्माण्ड यज्ञ को पूरा कर रहा है। इसका नाम यज्ञ चक्र है। इसी के विषय में भगवान् वेद ने कहा है "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।" इसी वेद के वाक्य को महर्षि वेदव्यास ने "देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः" इन शब्दों में दोहराया है। आगे चलकर गीता में इसी अध्याय के सोलहवें श्लोक में स्पष्ट शब्दों में "एवं प्रवर्त्तितम् चक्रम्" इस प्रकार इस यज्ञ-चक्र का वर्णन किया है। इस यज्ञ-चक्र की शृंखला में जो कोई ब्रह्माण्ड यज्ञ की ओर आते हुए अपने से अगली विशालतर कड़ी का उपघात करता है तो उतने अंश में वह यज्ञ-चक्र का विध्वंस करता है और इसीलिये वह अपने आप में यज्ञ होते हुए भी बड़े यज्ञ का विघातक होने से दूषित है।

कभी-कभी देखने में आता है कि सारे राष्ट्र की शक्ति

एक ही व्यक्ति की रक्षा में लग रही होती है। प्रश्न हो सकता है कि क्या वह भी यज्ञ है? उत्तर 'हां' में है। व्यक्तियों की रक्षा में राष्ट्र दो ही अवस्थाओं में लग सकता है। या तो उस व्यक्ति में कोई ऐसा गुण हो जिससे सारे राष्ट्र का उपकार होता है या उस व्यक्ति की रक्षा के पीछे कोई ऐसा सिद्धान्त काम कर रहा हो जिसके अपमान से सारे राष्ट्र के संगठन का विध्वंस होता हो। उदाहरण के लिये राष्ट्र का एक वैज्ञानिक है जो राष्ट्र की रक्षा के लिये उपयोग में आने वाले अस्त्र-शस्त्रों का एक मात्र ज्ञाता है। अथवा राष्ट्र का एक दूत है जो किसी दूसरे राष्ट्र में बात-चीत करने के लिये प्रतिनिधि होकर गया है। पहिली अवस्था में उसकी विद्या राष्ट्र को उसकी रक्षा के लिये प्रेरित करती है। दूसरी अवस्था में उसका राष्ट्र का प्रतिनिधि होना है। परन्तु अन्ततः परिणाम यह निकलता है क्योंकि इनका जीवन और आँखें मनुष्यों के लिए उपयोगी हैं अतः उसकी रक्षा सहस्रों जानें व्यय करके भी की जाती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि यज्ञ भावना का अर्थ क्या है। यज्ञ भावना का अर्थ है—"छोटे समुदाय का बड़े समुदाय के लिए अपने आपको अर्पण करना।" इसलिए इस भावना के सिखाने का साधन भी ऐसा होना चाहिए जिसमें परस्पर उपकारकता स्पष्ट दीखती हो। उदाहरण के लिए यदि जल का जल में हवन करें अथवा मिट्टी का मिट्टी में हवन करें तो उसमें परस्पर उपकारकता का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता और

ना ही वृद्धि का अनुभव होता है। हाँ, यदि धरती में बीज का हवन करें तो वहां जल मिट्टी और बीज के संयोग से परस्पर उपकारकता दीखने लगती है और बीज के बलिदान का दृश्य भी सामने आता है। परन्तु यह दृश्य अपने इस रूप को प्रकट करने के लिए बड़ा समय माँगता है। हां यदि अग्नि में घृत समिधा तथा सुगन्धित पदार्थों का हवन करें तो उससे उत्पन्न होने वाली ज्वाला में निरन्तर चेष्टा, तीव्रगति, उससे उत्पन्न होने वाला प्रकाश चारों तरफ होने वाला सौरभ विस्तार, परस्पर उपकारकता तथा आहुतियों के आरम्भ और समर्पण का दृश्य यज्ञ के सर्वाङ्ग सम्पन्न रूप का एकदम हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। इसलिए अग्नि को ही कल्प सूत्रकारों ने कर्मकाण्ड की विद्या सिखाने का मुख्य साधन माना है।

संगठन के दो मुख्य भाग हैं। एक देव और दूसरे पुजारी। अर्थात् एक आज्ञा देने वाला और दूसरा कहना मानने वाला। संसार का कोई संगठन इन दो अँगों के बिना नहीं चल सकता जिन संगठनों में सब के सब आज्ञा देते हों वहाँ परस्पर कितनी भी प्रीति हो वह अपना काम नहीं चला सकते। सलाह सबकी सुनी जाय, समय-समय पर जो जिस क्षेत्र का पण्डित हो उसकी मानी भी जाय, परन्तु मानने न मानने का काम भी तो किसी एक के अर्पण करना ही पड़ेगा। बस, इसी को यज्ञ की भाषा में 'विश्वेदेवाः' और 'यजमान' के नाम से पुकारा गया है। यजमान इन्द्र है। क्षेत्र-भेद से हरएक देव अपने समय में इन्द्र पदवी पा

सकता है। जिस यज्ञ का वह यजमान है उसका वही इन्द्र है। इसलिए कहा है।

इन्द्रो यजमानः । श० २ १. २ ११ ॥ ४. ५. ४. ८. ॥ ५ १ ३ ४. ॥

अब देवराज 'इन्द्र' और 'विश्वेदेवाः' में परस्पर सम्बन्ध क्या होना चाहिए इस पर विचार करना आवश्यक है। सबसे पहली वस्तु यज्ञ भावना है। यह तो सभी देवों में होनी चाहिये, अर्थात् समुदाय के स्वार्थ के लिए अपना स्वार्थ बलिदान करने की तत्परता। परन्तु जब उनमें शिष्य और शास्ता का विधेय और विधाता का भेद उत्पन्न कर दिया तो उनके कर्तव्य में भी भेद होना चाहिए।

विधेयों का एक ही कर्तव्य है। वह है—आज्ञा पालन। दूसरी ओर विधाता इन्द्र अथवा यजमान का कर्तव्य है कि वह जो आज्ञा पालन कराना चाहता है उस पर चलने के लिये स्वयं भी तैयार हो। दूसरे वह अपने विधेयों में किसी को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के सिद्ध करने का साधन न बनावे। बस इन्हीं उपदेशों को अभिनय द्वारा जीवित जागृत बनाने के लिये कल्प-सूत्रकारों ने जिस दिव्य पवित्र नाटक की रचना की है, उसका नाम अग्निहोत्र है।

अग्निहोत्र का मुख्य पदार्थ अग्नि है। वह इस कार्य के लिये क्यों चुना गया। इसका वर्णन हम पहिले कर आये हैं। अब

सबसे पहिली क्रिया अग्न्याधान का वर्णन करते हैं। यजमान को जो कार्य वह दूसरों से कराना चाहता उसे करने के लिये सबसे प्रथम स्वयं तैयार होना चाहिए। इसी लिये अग्न्याधान के मन्त्र में उत्तम पुरुष का प्रयोग किया जाता है। यह नहीं कहा गया कि 'अग्न्याधान करें', यह नहीं कहा गया 'तुम अग्न्याधान करो'। प्रत्युत कहा गया है कि सबसे पहिले "मैं अग्न्याधान करता हूँ।" इसी लिये अग्न्याधान के प्रथम मन्त्र की समाप्ति 'अग्निम् आदधे' इन शब्दों से होती है।

१० ब्रह्म-प्रणिधान

यह भावना अर्थात् बड़े समुदाय के लिये छोटे समुदाय को अर्पण करने की भावना ईश्वर-विश्वास के बिना भी उत्पन्न की जा सकती है। परन्तु ईश्वर-प्रणिधान अथवा ईश्वरार्पण के द्वारा उसमें जो निरभिमानता और मधुरता उत्पन्न हो जाती है वह अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकती। एक समष्टिवादि प्रजा के हित के लिए अपने आपको अर्पण करता है। परन्तु मैंने इस प्रकार बलिदान द्वारा समाज पर एक भारी उपकार किया है ऐसा अभिमान कुछ न-कुछ मात्रा में उसके हृदय में उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता और यदि समाज उसके उपकार का बदला न दे अथवा अपकार करे तो उसका हृदय रोष-कलुषित हुए बिना नहीं रह सकता। दूसरी ओर ईश्वर-विश्वासी समाज से बदले में उपकार माँगता ही नहीं। क्योंकि वह तो कार्य ही अपने प्रभु की

अराधना के लिए कर रहा है, समाज को अहसानों के बोझ से लादने के लिए नहीं। प्रथम तो अपने प्रभु की प्रसन्नता ही उसके लिए मधुरतम फल है। और यदि इसके अतिरिक्त और किसी फल की आकांक्षा भी उसे हो तो उसे विश्वास है कि वह उसे अपने प्रभु से प्राप्त हो जायगी। इसलिए वह समाज द्वारा किये गए अपकारों से भी रुष्ट नहीं होता। अतः आवश्यक है कि इस अग्न्याधान का साक्षी उस परब्रह्म को ही बनाया जाय। इसीलिए उस प्रभु को साक्षी करके ही इस यज्ञ का आरम्भ होता है। कहते हैं—ओ३म् तू भूः है, तू भुवः है, तू स्वः है। इसलिए भूः भुवः स्वः ओ३म् तुझे साक्षी करके मैं इस अग्नि को आधान करता हूँ। अब इन तीनों सम्बोधनों में क्या विलक्षणता है इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है और इनका यज्ञ भावना से क्या संबन्ध है यह आगे दिखाते हैं।

संसार में जितनी भी विचारधारा है वह ज्ञान, इच्छा और अनुभूति इन तीन भागों में बंटी हुई है। यह मनोविज्ञान का सर्वसम्मत सिद्धान्त है। अतः इन तीन के परस्पर संगठन में यज्ञ का पूर्ण स्वरूप आ गया। यह तीन स्वरूप ही गायत्री मन्त्र की भूः भुवः, स्वः, इन तीन महा व्याहृतियों में आ गये हैं। संसार भर की कोई भी संगठित चेष्टा इन तीन के बराबर नहीं हो सकती। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' में भी इन्हीं तीन की व्याख्या है। सम्पूर्ण चेष्टाओं का मूल उत्पत्ति कारण होने से ज्ञान भूः कहलाता है। विस्तार के कारण भुवः इच्छा का नाम है। और

स्वः अर्थात् सुख अनुभूति का उपलक्षण है। इन्हीं तीन के कारण शतपथ में सैकड़ों बार दोहराया गया है "त्रिवृद्धि यज्ञः" अर्थात् यज्ञ तीन लड़ा है। सत् चित आनन्द, जीव, ईश्वर, प्रकृति, सत्व, रजस, तमसः, व्यवस्थापिका सभा, कार्य-कारिणी सभा, न्याय सभा, आदि इन तीन संख्या के सैकड़ों संयोग दिखाये जा सकते हैं। परन्तु वह सब के सब ज्ञान इच्छा और अनुभूति, इन तीन से पृथक् कहीं नहीं हो सकते। इसलिये इन तीन में सम्पूर्ण जगत् का समावेश होने के कारण, कोई यन्त्र, कोई पुरुष, कोई राष्ट्र, कोई ग्रन्थ, किम्बहुना संसार का कोई भी पदार्थ पूर्ण तब ही कहला सकता है जब वह हमारी इन तीनों प्रकार की प्यास को, ज्ञान-पिपासा, यत्न-पिपासा, सुख-पिपासा को मिटाता हो। इसीलिये इन तीन व्याहृतियों को महाव्याहृति कहा गया है। इन शब्दों का अर्थ आगे चलकर—

भूः	अग्नये	प्राणाय
भुवः	वायवे	अपानाय
स्वः	आदित्याय	व्यानाय

इन तीन वाक्यों में स्पष्ट होता है। चेष्टा मात्र किसी न किसी ज्ञान से प्रादुर्भूत होती हैं। उस ज्ञानावस्था का नाम अग्नि है। उसका काम है "अग्रे+नयनम" आगे ले जाना, Guide करना। किन्तु अग्नि वायु द्वारा चेष्टा करती है। स्थूल जगत् में भी जल तेल आदि जब अग्नि संयोग से वायु रूप (Gas) की

अवस्था धारण कर लेते हैं तभी उनसे चेष्टा उत्पन्न होती है। किन्तु उस चेष्टा से और गर्मी उत्पन्न होते-होते जब वह सुख की अवस्था तक पहुँच जाती है, उस अवस्था को ज्योतिर्मय होने के कारण "आदित्य" कहा गया है। भूः, भुवः, स्वः यज्ञ के तीन अङ्गों की पूर्त्ति के लिये सबसे पहले हर एक यजमान ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्ण संकल्प की अग्नि को अपने हृदय में स्थान देता है। प्रश्न हो सकता है कि यज्ञ-चक्र में एक अग्नि परम्परा दिखाई गई है फिर संकल्पाग्नि को मुख्यता क्यों दी गई? इसके लिये वेद का प्रमाण है—

मुग्धा देवा उत शुना यजन्त उत गोरंगैः पुरुधा यजन्त, य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्राणो वोचस्तमिहेह ब्रवः।

अथर्व० ७।५।५।

अर्थात् "यज्ञ का मर्म न समझने वाले सैकड़ों श्रद्धालु लोग कोई कुत्ते से हवन करने लगते हैं, कोई गौ से, परन्तु वे सब कार्य्याकार्य विवेक रहित मूढ़ लोग हैं। हे भगवान्! हमें ऐसा गुरु दीजिये जो यज्ञ को मन के द्वारा जानता है अर्थात् मानस यज्ञ जानता है, और जब ऐसा गुरु हमें मिले तो हम उससे कहें कि हमें मानस यज्ञ का उपदेश दीजिए।"

तात्पर्य्य यह कि वेद कहता है—जब लोग यज्ञ के मर्म्म को भूल जाते हैं तो वह द्रव्य यज्ञको मुख्य समझ बैठते हैं, वे समझने लगते हैं कि अमुक द्रव्य के हवन से कोई विशेष पारलौकिक

चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। फिर तो वे ऊटपटाँग पदार्थों का हवन करते हैं। जो जानते हैं कि यज्ञ मुख्य रूप से मानस कर्म्म है वे द्रव्य यज्ञ करने में कभी ऐसे पदार्थ से यज्ञ नहीं कर सकते जिससे मानसिक भाव दूषित हों। क्योंकि यज्ञ का मुख्य उद्देश्य तो मानसिक भावनाओं को शुद्ध करना है।

इस प्रकार हमने दिखा दिया कि यहाँ अग्नि से मुख्य तात्पर्य्य मानस संकल्प रूप अग्नि से है जिसकी व्याख्या हम ब्रह्मयज्ञ में कर चुके हैं। हम में से हर एक मनुष्य उस अग्नि का इन्धन है। यज्ञ के इन्धन कृमि दोषादि से रहित परिपक्व होने चाहिए। इसलिये आमता को दूर करने तथा यज्ञ योग्य बनाने के लिये ब्रह्मयज्ञ किया जाता है। ब्रह्मयज्ञ द्वारा पवित्र किया हुआ व्यक्ति रूपी यज्ञकाष्ठ अब उस संकल्पाग्नि को प्रज्वलित करके अपने आपको उसमें आहुति करने की भावना हृदय में दृढ़ करता है। इसी का नाम अग्न्याधान है। जिसदिन भूमण्डल के समस्त राष्ट्रों के पुरुष यह अग्न्याधान कर लेंगे इस भूमि का भार दूर हो जायगा।

देवयज्ञ के अङ्ग और उनका परस्पर सम्बन्ध

इस देवयज्ञ की दो पद्धतियां हैं एक जो पञ्च महायज्ञ विधि में दी हुई है, दूसरी जो संस्कार विधि में दी गई है और जिसका आजकल अधिक प्रचार है। बड़ी विधि में इतने अंग हैं :—

(१) आचमन
(२) अग्न्याधान
(३) अग्निसमिन्धन
(४ प्रयुक्षण
(५) आघार
(६) आज्य भाग
(७) (क) प्रातःकाल की प्रधानाहुति
(ख) सायङ्काल की प्रधानाहुति
(८) व्याहृति आहुति
(९) उपसंहाराहुति
(१०) प्रार्थनाहुति
(११) पूर्णाहुति

पञ्च महायज्ञ विधि में जो छोटी विधि दी गई है उसमें केवल सात, आठ, नौ और ग्यारह यह चार ही दी गई हैं।

इस पद्धति भेद का भाव केवल इतना है कि जिसे कार्याधिक्य से सम्पूर्ण अग्निहोत्र करने का अवकाश न हो वह न्यूनसे न्यून इतना अवश्य करले जितना पञ्च महायज्ञ विधि में दिया गया है।

किन्तु व्याख्या में हमने संस्कार-विधि की पद्धति की ही व्याख्या करना उचित समझा है। क्योंकि इससे दोनों में रहस्य है। यह स्वयं समझ में आ जायगा।

अब इन अंगों का परस्पर सम्बन्ध समझने के लिए हमें सबसे पहले प्रधान आहुतियों को लेना होगा।

प्रधान आहुतियों के देवता सूर्य और अग्नि हैं। सो भाव यह है कि अग्नि को चमकाते हुए सूर्य की अवस्था तक पहुँचाना हमारा ध्येय है, यह इन मन्त्रों में बारम्बार कहा गया है।

किन्तु जब कोई यह पूछे कि अग्निको सूर्यकी अवस्था तक कैसे पहुँचाया जाय तो उसकी व्याख्या एक से छठे भाग तक की गई है।

सबसे प्रथम तो यह बताया गया है कि यज्ञ के लिए सबसे आवश्यक सामग्री हैं समिधा और आज्य अर्थात् अग्नि और सोम समिधा अग्नि का ही प्रतिनिधि है जब कोई कार्य आरम्भ करना चाहो तो सबसे पहले एकको स्वयं जलना होगा दूसरे उसमें घृत तथा सुगन्धि की प्रेम और पवित्रता की आहुति देंगे। बस अग्न्याधान और अग्नि समिन्धन तक यही बताया गया है, फिर अदितेऽनुमन्यस्व आदि चार मन्त्रों में अग्नि पर चार अंकुश बताए गये हैं अर्थात् जब अग्नि इन चार मर्यादाओं का ध्यान रक्खे बिना जलती है तब वह उपकार के स्थान में अपकार करती है और स्वयं नष्ट हो जाती है।

वे चार मर्यादायें ये हैं :—

पहली अदिति अर्थात् उपादान द्रव्य अथवा Material. यदि किसी के पास उद्देश्य पूर्ति की उचित सामग्री न हो तो सब से पहला कार्य यह है कि सामग्री सञ्चय करे नहीं तो—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषं मोहादारभ्यते कर्म्म तत्तामसदाहृतम् ।

पीछे के परिणाम उस कार्य से होने वाला द्रव्य क्षय, जीव-हिंसा तथा कार्यकर्ताओं की शक्ति को बिनागिने जो अंधाधुन्ध कार्य आरम्भ करना है यह तामस कार्य है !

इस पर कई लोग कह सकते हैं कि जो मनुष्य अकेले अपने विचारों के बल पर सारे संसार से लड़ने निकल पड़ते हैं वे क्या इस श्रेणी में नहीं आते उनके प्रति हमारा कथन है कि नहीं। उन्हें अपनी शक्ति और अपने कार्य के विषय में कोई धोखा नहीं होता वे तो स्वयं भी आने वाले कष्टों को जानते हैं और अपने साथियों को भी बता देते हैं। किन्तु जो लोग आलस्य अथवा प्रमाद के वश अपने आपको धोखा देकर समझ लेते हैं कि कार्य हो जायगा और अपने साथियों को भी ऐसी ही वञ्चना करते हैं वे अदिति देवी से अनुमति लिए बिना कार्य आरम्भ करने वाले हैं।

फिर दूसरी देवी अनुमति देवी है। जो लोग अपने सहयोगियों पर अत्याचार करके डरा धमका कर उन्हें अपने साथ कार्य करने पर बाधित करते हैं वे अनुमति देवी का अपमान करते हैं।

तीसरी देवी है सरस्वती अर्थात् विद्या। सामग्री भी हो, कार्य-कर्त्ताओं में उत्साह भी हो किन्तु कार्य करने की पद्धति का

ज्ञान प्राप्त किये बिना जो कार्य आरम्भ करते हैं वे सरस्वती से विना पूछे कार्य्य आरम्भ कर देते हैं।

फिर सब के पश्चात् धर्म्म अथवा राज नियम है। जो कोई सविता देव अर्थात् परमात्मा अथवा उसके समान गुण रखने वाले धर्म्मात्मा राजा की अनुमति के बिना कार्य्य आरम्भ करते हैं। उनमें सामग्री उत्साह तथा विद्या होने पर भी उनका सारा कार्य्य स्मशान में शृंगार के समान निष्फल हैं। यह अग्नि के चार अंकुश हैं। इसीलिये यह मन्त्र अग्नि को रोकने वाले जल के साथ पढ़े जाते हैं।

फिर पदार्थों के दो मुख्य प्रकार अग्नि और सोम का वर्णन है।

अर्थात् अदिति देवी के यह दो प्रकार हैं। भोजन की सामग्री में आटा और जल अग्नि तथा सोम हैं। परिवार में पति तथा पत्नी अग्नि तथा सोम हैं। यन्त्रशाला में तो अग्नि तथा सोम स्पष्ट ही अग्नि और जल के रूप में दीखते हैं। अन्यत्र भी इसी प्रकार जानना।

अब प्रजापति और इन्द्र के नाम से सामग्री की मात्रा बनाई गई है। अर्थात् सामग्री के तीन भाग करने चाहियें। एक तो जो अग्नि के अर्पण हो। एक जिससे नई अग्नि उत्पन्न हो। और एक जो सुरक्षित रक्खा रहे। उदाहरण के लिये मनुष्य को दुकान में जो धन लगाना है वह तीन भागों में बांटना चाहिये। एक दुकान के माल में एक नया माल तय्यार करवाने के लिये

और कुछ आपत्तियों के लिये सुरक्षित रखना चाहिये। सो जो धन दुकान में लगा है वह अग्नि देवता की आहुति है। जो नया माल तय्यार करने में लगा है, वह प्रजापति देवता की आहुति है। जो धन सुरक्षित रख लिया गया है वह इन्द्र देवता की आहुति है। सो इस प्रकार अग्नि, सोम, इन्द्र तथा प्रजापति की महिमा वर्णन करके यज्ञ के मुख्य देवता अग्नि की आहुति की जाती है। एक और दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक ब्राह्मण की कार्य्य-शक्ति उसकी सामग्री अथवा उसका सोम है। उसका सत्य रूप अग्नि में हवन होना है। अर्थात् विद्या की उन्नति में पढ़ने, ग्रन्थ लेखन आदि में उसकी शक्ति लगेगी। अब यदि वह सारी शक्ति यहीं लगादे तो सब अग्नि देवता के अर्पण होगई किन्तु जितनी शक्ति वह समाज को संगठित करने में अथवा शिष्यों को पढ़ाने में लगाता है, वह प्रजापति की आहुति है। जितनी शक्ति वह व्यायाम, हास्य-प्रमोद आदि के लिये बचा लेता है, वह इन्द्र देवता के अर्पण है। अब यदि कोई मनुष्य दिन रात पढ़ता ही रहे तो अग्नि उसे भस्म कर देगी। इसलिए सब देवों के समन्वय से ही कार्य करना उचित है। इस प्रकार अग्नि समिन्धन के प्रकार अग्नि के अंकुश और अग्नि के सामग्री विभाग को जानकर मनुष्य अग्नि में आहुति करता है। यही मुख्य आहुति है।

अब प्रश्न उठ सकता है कि कहीं जो सारे विश्व को अग्नि सोम में बांटते हो कहीं अग्नि इन्द्र और प्रजापति में बाँटते हो

और कहीं इन्हें भूः भुबः स्वः में बांटते हो। यह क्या गोरख धन्धा है तो इसका उत्तर यह है कि इसमें गोरख धन्धा कुछ भी नहीं। अग्नि और सोम यह दो भेद तो प्रकार भेद से हैं अर्थात् इन दो प्रकार के कार्यकर्त्ता मिलकर सङ्गठन को पूरा करते हैं।

इन्द्र प्रजापति और अग्नि यह भेद यात्रा भेद के हैं अर्थात् यज्ञ में जितनी सामगी कार्य में लगा दी गई वह अग्नि देवता के अर्पण हुई, जो नया पदार्थ उत्पन्न करने में लगी वह प्रजापति के अर्पण हुई और जो क्षतिपूर्ति तथा आपत्काल के लिये रखली गई वह इन्द्र देवता के अर्पण हुई। जो धन दुकान में लग गया वह अथवा दान हुआ वह अग्नि देव के अर्पण हुआ, जो सुरक्षित रख लिया गया वह इन्द्र के अर्पण हुआ। यह भेद सामग्री की मात्रा के बांटने के हैं।

अब रहे भूर्भुवः स्वः यह तीन क्रम भेद हैं अर्थात् हर एक कार्य क्रमशः इन तीन अवस्थाओं से गुजरता है। भूः विचार कोटि है, भुवः उसको कार्य में परिणत करने की अवस्था है और स्वः वह सुख रूप फल है जो उससे प्राप्त होता है। भूः बीज है, भुवः वृक्ष है और स्वः फल है।

यह क्रम है भी उचित; सबसे पहिले यह बताया कि अग्नि के लिये कितने प्रकार के पदार्थ अपेक्षित हैं फिर यह बताया कि उनकी मात्रा क्या होनी चाहिए फिर कार्य-क्रम बनाया। अग्नि और सोम यह दो प्रकार हैं। इन्द्र अग्नि प्रजापति यह मात्रा हैं। भूर्भुवः स्वः अथवा बीज, वृक्ष, फल यह तीन क्रम हैं।

जहाँ यह तीनों एक समय चलाने हैं वहाँ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को यह कार्य बांट दिये जावें किन्तु क्रम यही होगा किन्तु जब एक ही मनुष्य को तीनों कार्य करने पड़ते हैं तो यह क्रम स्वयं स्पष्ट हो जाते हैं पहिले विचार होता है फिर चेष्टा फिर फल। इस प्रकार यज्ञ के भिन्न-भिन्न अङ्ग, उनका परस्पर सम्बन्ध द्रव्यों की मात्रा और कार्य-क्रम बनाकर अब मन्त्रों की व्याख्या करते हैं।

मन्त्रों की व्याख्या

अब अग्नि होत्र (देवयज्ञ) के मन्त्रों की व्याख्या क्रम से सुनिये। सबसे प्रथम अग्न्याधान का मन्त्र लीजिये। मन्त्र इस प्रकार है—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। ओ३म् भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा। तस्या अस्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठे अग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥

वह ओ३म् भूः भी है, भुवः भी है, स्वः भी है। हे भूः, भुवः, स्वः ओ३म् जिस प्रकार यह द्यौः सूर्य चन्द्र तारकादि की भूमा से (बहुतायत से) सुशोभित है इसी प्रकार यह पृथिवी भी वरिमा अर्थात् सौन्दर्य से भरपूर हो जाय। यह तब ही हो सकता है जब अन्नाद अग्नि को उसका अन्न मिल जाय। इस-लिये हे देवताओं के यज्ञक्षेत्र धरती माता मैं उस तेरे पृष्ठ पर

जहाँ मैं सौन्दर्य उत्पन्न करना चाहता हूँ अन्नाद अग्नि का स्थापन करता हूँ।

अन्नाद अग्नि से भिन्न क्रव्याद् और आमात् दो अग्नि वेद में कहे हैं। जब कोई पदार्थ जिस निमित्त बनाया गया हो उसके कार्य के योग्य न रहे तब उसे क्रव्य कहते हैं। जब कोई पदार्थ तैयारी की अवस्था में हो, कच्चा हो उसे आम कहते हैं। वेद कहता है "यज्ञ में इन दो प्रकार के पदार्थों को मत डालो।" क्रव्य की अन्त्येष्टि करो। आम का परिपाक करो। जब वह अन्न हो जाय उसे उपयोग में लाओ। संसार में एक ही पदार्थ है जो सदा पका है। वह परमात्मा है। इसीलिये उपनिषद् में भगवान् ने कहा है—अहमन्नम् अहमन्नादः 'यह सारा संसार मेरा अन्न है और मैं अन्नों का अन्न हूँ।' मैं आम का क्रव्य नहीं होता। इसलिये इस सारी अन्नाद्य क्रिया की समाप्ति तो परमान्न के भोजन में ही होती है परन्तु आरम्भ अग्न्याधान से होता है।

शब्दार्थ—ओ३म् (भूः) जन्मभूमि (भुवः) विस्तार करने वाली (स्वः) सुख स्वरूप है। हे ओ३म् (भूः) जन्मदाता (भुवः) विस्तार करने वाले (स्वः) सुख स्वरूप (द्यौः) आकाश (इव) जिस प्रकार (भूम्ना) बहुतायत से सुशोभित है इसी प्रकार (पृथिवी) भूमि (व) भी (वरिम्णा) सौंदर्य से भरपूर हो जाय इस निमित्त मैं (तस्याः) उस (ते) तेरे (पृथिवि) हे पृथिवी! (देवयजनि) देवताओंके यज्ञ क्षेत्र (पृष्ठे) पृष्ठ पर (अग्निम्) अग्नि को (अन्नादम्) परिपक्वावस्था तक पहुँचे हुए पदार्थों का उपयोग लेने वाले

(अन्नाद्याय) परिपकावस्था तक पक पहुँचे हुए पदार्थों का उपयोग लेने के लिये (आदधे) स्थापन करता हूँ।

यज्ञ का मूल तत्व सहयोग है। अग्नि तो जलाने चले हो परन्तु मत भूलो कि कम से कम जब तक एक मनुष्य और तुम्हारे साथ न मिले तब तक यज्ञ का मुख्य घटक सङ्गतिकरण उसमें नहीं आया। किन्तु साथ ही यह भी याद रहे कि उन दो में से एक मनुष्य न हो तब तक भी यज्ञ नहीं चल सकता। यज्ञ के लिये न्यूनतम अङ्ग दो हैं। अकेला पदार्थ कभी यज्ञ नहीं कहला सकता। यही बात अगले मन्त्र में दिखाई है:—

ओ३म् उद्बुद्ध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथामयञ्च। अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत॥

हे यजमान के हृदय में प्रसुप्त सङ्कल्पाग्ने! तू उद्बुद्ध हो। और फिर ऐसा उद्बुद्ध हो कि कभी न सोवे। सदा जागता रहे। तू और यह यजमान मिलकर इष्ट अर्थात् सत्सङ्ग ईश्वराराधनादि साधन धर्म और आपूर्त जिसके बिना साधन धर्म निरर्थक हैं, अपूर्ण हैं, जिसमें सारे धर्म की पूर्ति है, वह सदाचरण रूपी धर्म, इन दोनों को इकट्ठे मिलकर सिरजो। आज जो यह सहोद्योग के लिये इकट्ठे बैठना हुआ है इसमें और आगामी सधस्थों में भी यजमान और उसके सहायक सम्पूर्ण देव इकट्ठे मिलकर बैठें। यहाँ ऋषि दयानन्द ने तू और यह का अर्थ स्त्री और

पुरुष किया है। सो अग्निहोत्र के गृहस्थाश्रम प्रकरण में इन दो की मुख्यता होने से वह अति सुसङ्गत है।

शब्दार्थ—(उद्बुद्धयस्व) उठ पड़ (अग्ने) अग्ने (प्रतिजागृहि) सदा जागता रह (त्वम्) तू (इष्टापूर्ते) सत्सङ्गादि इष्ट और सदाचरणादि आपूर्त धर्मों को (संसृजेथाम्) मिलकर सिरजो (अयञ्च) और यह अर्थात् मुख्य यजमान (अस्मिन्) इस (सधस्थे) मिलकर सहोद्योग करने की बैठक में (उत्तरस्मिन्) और आगामी सहयोगों में (विश्वेदेवाः) सम्पूर्ण सहायक देव अर्थात् दिव्य शक्ति युक्त लोग (यजमानः) यजमान (च) भी (अधिसीदत) बैठें।

अब आगे यजमान और उसके सहायक देव अर्थात् यज्ञ में संगत होनेवाले हर एक व्यक्ति में यज्ञ के प्रति क्या भावना होनी चाहिये यह अगले मन्त्र में दिखाते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

ओ३म् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेद्ध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा। इदमग्नये जातवेदसे इदन्न मम॥

हे जातवेद! यह ईंधन, अर्थात् मैं, तेरा आत्मा है। तुझे सदा जीवित रखने वाला है। तू इससे प्रदीप्त हो और बढ़। और जब तू प्रदीप्त हो जाय तो हमें बढ़ा भी। प्रजा से, पशुओं से, ब्रह्मवर्चस से, अन्न भोग से, सभी से हमें बढ़ा। बस, वही सङ्गठन संसार में सफल होता है जिसमें हर एक

व्यक्ति दूसरे से नहीं कहता कि तू अग्नि का इन्धन है किन्तु अपने आपको अग्नि का इन्धन बना देता है, जहां हर एक संकट में दूसरे को आगे बढ़ने के लिये कहने के स्थान में सबसे पहिले अपनी आहुति करने को तैयार हैं।

परन्तु यज्ञ भावना की पराकाष्ठा तो अगले छोटे से वाक्य में है। यज्ञ में आहुति का मुख्य भाग अग्नि में डाल दिया जाता है। किन्तु एक छोटा-सा बून्द यह वाक्य बोलकर जल में डाल दिया जाता है। यह इस बात का सूचक है कि हर एक यजमान को अपने ऐश्वर्य का बड़ा भाग तो समाज की सेवा में ही देना चाहिये। किन्तु जो थोड़ा-सा अंश वह अपने लिये निकालता है वह भी वस्तुवः महान् संकल्पाग्नि के ही अर्पण है। वह कहता है कि यह जो अंश मैंने अपने लिये निकाला है यह भी इसलिए कि मैं यज्ञ की सेवा कर सकूं। उदाहरण के लिये एक व्यक्ति को भोजन करना आवश्यक है और भोजन में आनन्द लेना भी आवश्यक है। जिससे स्वस्थ शरीर से वह और कार्य कर सके। इसलिये यह स्पष्ट हुआ कि सांसारिक सुख भी इसलिये भोगता है कि उसकी शक्ति से अधिक परोपकार कर सके। एक शब्द में सार यह हुआ:—

सच्चा यजमान यज्ञ इसलिये नहीं करता कि उससे सुख मिले, उलटा सुख इसलिये और वहीं तक भोगता है जिससे वह कार्य पहिले की अपेक्षा दुगने उत्साह से कर सके। मर्म यह कि साधारण मनुष्यों के जीवन में यज्ञ साधन और सुख

साध्य है, किन्तु सच्ची यज्ञ भावनावालों में सुख साधन और यज्ञ साध्य है। इसीलिये वह कहता है कि यह जो एक बिन्दु मात्र भाग मैंने अपने लिये निकाला है यह भी मेरा नहीं है। यह भी वस्तुतः जातवेदः के अर्पण है। कार्य इसलिये नहीं करता कि वह सुख की नींद सो सके। किन्तु नींद इसलिए लेता है कि कार्य कर सके। जिस समय यह साध्य-साधन का विपर्य्यास अपनी पूर्णता तक पहुँच जाता है बस तब तो जानो कि यज्ञ भावना पूर्णता तक पहुंच गई।

कई विद्वानों का मत है कि "इदन्न मम" कहकर जल में घृत बिन्दु त्याग केवल गर्भाधान संस्कार में किया जाना चाहिये। किन्तु हमारी सम्मति में तो गर्भाधान में ऋषि ने उसका विशेष उल्लेख इसलिये कर दिया क्योंकि वहां इसका अभ्यङ्ग किया जाता है। किन्तु अन्यत्र भी यह क्रिया होनी चाहिये। क्योंकि यदि सारा ही भाग यज्ञ में डाल दिया जाय तो "इदन्न मम" यह शब्द प्रयोग करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसका सौन्दर्य तो इसी में है कि यजमान जो भाग अपने लिये निकालता है वह भी वस्तुतः उसका नहीं है।

इसके साथ ही एक बात और ध्यान देने योग्य है। यदि सम्पूर्ण घृत जो ठीक परिमाण से लिया जाता है अग्नि में ही डाल दिया जाय तो संस्कार विधि के सामान्य प्रकरण में जो ऋषि ने लिखा है कि "ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा" इस मन्त्र से एक आहुति देवे, ऐसे दूसरी और तीसरी आहुति

दे के, जिसको दक्षिणा देनी हो दें, वा जिसको जिमाना हो जिमाके, दक्षिणा दे सबको विदा कर स्त्री-पुरुष हुतशेष घृत, भात व मोहनभोग को प्रथम जीम के पश्चात् रुचिपूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें।" यह हुतशेष घृत क्या है? इस से हमारी सम्मति में "इदन्न मम" यह वाक्य बोलकर घृत बिन्दु त्याग सब यज्ञों में करना उचित है। गर्भाधान में उसका उल्लेख ब्राह्मण-वशिष्ठ-न्यायेन अति विशेषता के लिये किया गया है।

शब्दार्थ—(अयम्) यह (ते) तेरा (इध्मः) इन्धन (आत्मा) सदा गतियुक्त रखने का साधन है (जातवेदः) पदार्थ मात्र का सहयोग प्राप्त करने वाले अग्ने ! (तेन) उससे (इध्यस्व) प्रदीप्त हो (वर्धस्व) बढ़ (च) भी (वर्धय च) और बढ़ा भी (अस्मान्) हमें (प्रजया) प्रजा से (पशुभिः) पशुओं से (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्म तेज से (अन्नाद्येन) अन्नादि से (समेधय) बढ़ा (स्वाहा) यहां तक बढ़ा कि सब सु+आह अच्छा ही अच्छा कहें। (इदम्) यह अपने लिये लिया हुआ भाग (अग्नये) अग्नि के लिये (जातवेदसे) जो हर एक पैदा होने वाले पदार्थ को प्राप्त होता है उसके लिये है (इदम्) यह (न) नहीं है (मम) मेरा।

यह भावना नित्य के अभ्यास से ही दृढ़ हो सकती है, इस लिये अगले मन्त्र में विधिवाक्य द्वारा भगवान् इस संकाल्पाग्नि की अनवरत सेवा की आज्ञा देते हैं :—

ओ३म् समिधाऽग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आऽस्मिन् हव्या जुहोतन ॥

अग्नि को समिधा से बढ़ाओ। घृताहुतियों से इस अतिथि को प्रबुद्ध करते रहो, और इसमें सदा हव्य डालते रहो। यहाँ समिध् घृत और हव्य यह तीन शब्द ध्यान देने योग्य हैं। किसी भी संगठन में समिध् वह अंग हैं जो सब से पहिले प्रज्वलित होकर कार्य्य का आरम्भ करते हैं। उसके पश्चात् घृत हैं जो स्वयं जलने का आधार नहीं बनते, किन्तु ज्वाला को भड़काने में सब अधिक भाग लेते हैं। हव्य वह पदार्थ हैं जिनके निमित्त यज्ञ किया जाता है। उदाहरण के लिये भोजन में अग्नि वर्धक खाँड आदि पदार्थ समिध् हैं। रुचिवर्धक पदार्थ घृत हैं। तथा अस्थि-माँसवीर्य मस्तिष्क आदि बनाने वाले हव्य हैं। रुचि वर्धक पदार्थों को घृत सुनकर सब चौंकेंगे। किन्तु घृत शब्द "घृ क्षरणदीप्त्योः" से बना है। अतएव जिस प्रकार यह घृत अग्नि की ज्वाला को बढ़ाने से घृत कहलाता है ऐसे ही शरीर प्रकरण में जठराग्नि-वर्धक पदार्थ घृत कहलायेंगे, क्योंकि उनसे जिह्वा का क्षरण होता है। राज्य के आरम्भ में नया विचार देने वाले समिध् हैं। उन विचारों को लोक प्रिय बनाने वाले घृत हैं। और जो उस विचार के लोक सम्मत होने पर उसे क्रियात्मक रूप देने के लिए बुलाए जाते हैं वह बुलाए जाने के योग्य होने के कारण

हव्य हैं। इसी प्रकार यन्त्र में अग्नि का आरम्भ करने वाले समिध, जलीय अंश देने वाले पैट्रोल आदि घृत, तथा अन्य पुर्जे हव्य हैं। इस प्रकार यह यज्ञ-विद्या समस्त विद्याओं में ओत प्रोत हैं।

शब्दार्थ—(समिधा) समिधा से (अग्निं) अग्नि को (दुवस्यत) बढ़ाओ (घृतैः) उद्दीपक पदार्थों से (बोधयत) प्रबुद्ध करो (अतिथिम्) इस अतिथि तुल्य अग्नि को (आ) अच्छी प्रकार (अस्मिन्) इसमें (हव्या) बुलाने योग्य पदार्थों को (जुहोतन) हवन करो।

अब घृत की अर्थात् रुचिवर्धकों की विशेष महत्ता बताने के लिये एक और मन्त्र में उसका गौरव कहते हैं :—

ओ३म् सुसमिद्धाय शोचिषे घृतन्तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे इदन्न मम॥

जब यह जन्मधारी मात्र में पाया जाने वाला जातवेदा अग्नि अच्छी प्रकार प्रदीप्त हो जाय, जगमगाने लगे, उस समय तीव्र घृत की आहुति दो।

इससे पता लगता है कि राज्य में किसी कार्य को लोकप्रिय बनाने वाला भाग अत्यावश्यक है। क्योंकि किसी राज्य का शासन जितना भी दण्ड के बल पर कम चले उतना अच्छा है।

शब्दार्थ—(सुसमिद्धाय) अच्छी प्रकार प्रदीप्त हुए

(शोचिषे) जगमगाते हुए (घृतम्) घृत को (तीव्रम्) तीव्र (जुहोतन) हवन करो (अग्नये) अग्नि के लिये अर्थात् अग्नि में (जातवेदसे) जो जन्मधारी पदार्थ मात्र में विद्यमान है।

अब तक यज्ञ के आरम्भ में यजमान को विशेष स्थान देने के लिये अग्न्याधान में 'आदधे' यह एक वचन दिया गया था। अब अगले मन्त्र में यजमान और 'विश्वेदेवाः' अर्थात् उसके सब सहायक मिलकर भगवान् से प्रार्थना करते हैं। अतएव यहाँ 'वर्धयामसि' यह उत्तम पुरुष का वचन है:—

ओ३म् तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचायविष्ठय ॥ इदमग्नये अङ्गिरसे इदन्न मम।

हे बुरे पदार्थों को दूर करने तथा उत्तम पदार्थों के निश्चय में वरिष्ट अग्ने! तुम्हारी महिमा जान कर हमने तुम्हें अपने हृदय में इसी प्रकार दीप्त किया है जिस प्रकार वेदि में स्थूल अग्नि को। सो हे देदीप्यमान, अङ्गों के रस-भूत अग्ने! हम तुम्हें समिध् और घृत से सदा बढ़ाते रहें। तुम खूब चमको।

शब्दार्थ—(यविष्ठय) हे बुरी बातों को छुड़ाने तथा अच्छी बातों को मिलाने वाले (अङ्गिरः) अङ्गों के रसभूत अग्ने (तं) उस महान् (त्वा) आपको (समिद्भिः) समिधाओं से तथा (घृतेन) घृत से (वर्धयामसि) बढ़ाते हैं (बृहत्) खूब (शोच) चमक।

इसके पश्चात् "अयन्त इध्म" इस गृह्य-मन्त्र की पांच बार आहुति हैं, जो इस बात की सूचक है कि पाँच भौतिक संसार का पञ्चविध ज्ञान दिलाने वाली पांचों ही इन्द्रियें मेरी इस सङ्कल्पाग्नि के अर्पण हैं। इसी को गीता में इस प्रकार कहा गया है:—

सर्वाणीन्द्रियकर्म्म ण प्राणकर्म्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥

गीता ४। २७।

इस पञ्च संख्या की विशेष व्याख्या हमारी बनाई "स्वर्ग" नामक पुस्तक में पञ्चौदन प्रकरण में पृ० ६० से ६४ तक देख लें।

अग्न्याधान, अग्निदीपन, यज्ञस्वरूप निदर्शन यह तीन अंग हो चुके। अब सोम अंश का स्वरूप यज्ञ में दिखाते हैं। अतः यहां स्त्रीलिङ्ग शब्द आरम्भ हो गये। परिवार में स्त्री, राज्य में न्याय विभाग तथा ललित कलाओं का विभाग तथा चिकित्सा विभाग सोमांश हैं। यन्त्र-शास्त्र में जल, तेल आदि द्रव पदार्थ हैं। शरीर में कफ है। और पूर्ण पुरुष में अग्नि और सोम दोनों अंग एक में इकट्ठे हो जाते हैं। यह पूर्ण यज्ञ रूपता तो केवल परमात्मा में है। किन्तु उसके भक्तों में भी निरन्तर अभ्यास से यह अवस्था आ जाती है। अतएव कहा है:—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ॥

यह पूर्ण पुरुषों का स्वरूप है। इस स्वरूप का पूर्ण विकाश उस परम पुरुष में ही हुआ है जिसके लिये कहा है-- 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।" अब यजमान कहता है कि मेरी अग्नि मर्यादा को पार करके लोक को भस्म न कर दे, इसलिये—

ओ३म् अदितेऽनुमन्यस्व
"अदिते! तू भी अनुमति दे",
ओ३म् अनुमतेऽनुमन्यस्व
"अनुमते! तू भी अनुमति दे",
ओ३म् स्वरस्वत्यनुमन्यस्व
"हे सरस्वति! तू भी अनुमति दे",

अदिति का विस्तार अनन्त है। परमात्मा अग्नि है। प्रकृति अदिति है। वह रूप बदल ले परन्तु खण्डित नहीं होती। इसलिये जो खण्डित हो वह दिति (दो अव खण्डने), जो खण्डित न हो वह अदिति है। द्यौ अग्नि है, पृथिवी अदिति है। पुरुष अग्नि है पत्नी अदिति है। इसीलिये स्त्रियें धार्मिक विश्वासों में स्वभाव से दृढ़ होती हैं। राष्ट्र में कार्यकर्ता (Executive) अग्नि है, (Judiciary) न्यायाधीश

अदिति हैं, क्योंकि वह अटल हैं। क्योंकि अग्निहोत्र में हमने पति-पत्नी के सम्बन्ध के अर्थ मुख्य रूप से दिखाये हैं अतः इन तीनों मन्त्रों का भाव इस प्रकार हुआ कि पति को चाहिए कि (१) उपादान द्रव्य अर्थात् उस काम के लिये जरूरी मसाला है या नहीं यह देख कर काम करे, अनुमति लिये बिना कार्य न करे, फिर (२) अनुमति अर्थात् कार्यकर्त्ताओं की रजामन्दी के बिना कार्य न करे फिर (३) सरस्वती अर्थात् शास्त्र-वाणी की सलाह बिना कार्य न करे, पुरुष की अग्नि पर यह तीन नियन्त्रण हैं। फिर सबसे अन्त में हरएक कार्य के करने से पहिले अपने आपको प्रभु के अर्पण करे और जब भक्त बिलकुल निःस्वार्थ होकर उसके सामने झुकते हैं तो उन्हें अनेक बातें सूझती हैं। इसी को दैवी प्रेरणा कहते हैं। अन्धे जोश में काम करने वाले आग्नेय पुरुषों को नहीं सूझती। उस अवस्था के अभ्यास के लिये कहा:—

देव सवितः प्रसुवः यज्ञम् प्रसुव यज्ञपतिम्। भगाय दिव्यो गन्धर्व्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु। यजु० ११।७।

हे प्रभो! जिस प्रकार आपका भेजा यह दिव्य गन्धर्व (सूर्य) मेरे घर में अपनी मीठी रागिणी गाकर हमारा घर पवित्र कर जाता है, इसी प्रकार हे गन्धर्वों के गन्धर्व हमारे अन्तःकरणों में आकर एक बार ऐसा गा कि हमारी वाणी स्वादु हो जाय और

तुझे भी मीठी लगे। आ और हमारे यज्ञ पर, हमारे यज्ञ पति पर, अपनी यह मीठी मेहर कर जा। उसका कल्याण कर।

भारतीय संगीत शास्त्र के जानने वाले जानते हैं कि भारतीय संगीत की रागणियां सूर्य के प्रकाश पर अवलम्बित हैं। ज्यों-ज्यों सूर्य का प्रकाश बढ़ता जाता है रागणियों का स्वरूप बदलता जाता है! रात्रि में उस प्रकाश के अभाव का जो प्रभाव होता है उसका भी राग पर प्रभाव होता है। फिर ऋतुओं के अनुसार वसन्त, वर्षादि के प्रभाव पर राग बदलते हैं। इसीलिये सूर्य को दिव्य गन्धर्व कहा है। उसी के स्वर में स्वर मिलाकर पृथिवी लोक के गन्धर्व गाते हैं। किन्तु वह भूल जाते हैं कि यह सूर्य भी तो सविता के स्वर में स्वर मिलाकर गा रहा है। उसी को क्यों न कहें कि 'प्रसुव यज्ञम्'—हमारे वृन्दगीत को स्वर में चला (Orchestra को Lead कर)!

शब्दार्थ-(सवितः) सर्व प्रेरक (देव) देव (भगाय) परमैश्वर्य के लिये (यज्ञं) हमारे यज्ञों को, संघटित समारोहों को (प्रसुव) सुमार्ग में प्रेरित कर (यज्ञपतिं) यज्ञकर्ता को (प्रसुव) सुमार्ग में प्रेरित कर (केतपूः) ज्ञान को पवित्र करने वाला (दिव्य) दिव्य (गन्धर्वः) गन्धर्व (नः) हमारे (केतं) ज्ञान को (पुनातु) पवित्र करे (वाचस्पतिः) वाणी का पति वहः (नः) हमारी (वाचं) वाणी को (स्वदतु) मीठी करे।

यह चारों मन्त्र यज्ञ के सोमाङ्ग को बताते हैं। अतः इनके द्वारा अग्नि कुण्ड के चारों ओर जल छिड़का जाता है।

इस प्रकार अग्नि को प्रदीप्त करके आगे यज्ञ के अङ्गों का निरूपण करते हैं। यजमान को इन्द्र बनाना है। इन्द्र बनने से पहिले उसे तीन कोटियों में से जाना है। यह तीन कोटि हैं— अग्नि, सोम और प्रजापति। इन में से भी प्रथम दो मुख्य हैं। केवल अग्नि से यज्ञ कभी पूर्ण नहीं होता है। यज्ञ के दो अंग आवश्यक हैं—अग्नि और सोम। इसीलिये शतपथ में कहा है:-

"अग्नीषोमयोर्हैतावती विभूतिः प्रजातिः ॥"

शत० १६। २। २। ३।

यह जितनी विभूति है वह अग्निसोम की है। परिवार ही ले लीजिये। यहाँ पति अग्नि और पत्नी सोम है। जब तक यह दोनों न मिलें यजमान प्रजापति नहीं बन सकता। और जब तक अग्नि, सोम और प्रजा तीनों न मिलें तब तक यजमान इन्द्र नहीं बन सकता। अतएव सब संगठनों का एक नियम बताते हैं कि संगठन तब पूरा होता है जब उसमें गत्युत्पादक, गतिनिरोधक, और शक्ति आगे भी चलती रहे इसके लिये आवश्यक उसका कोष, यह तीन भाग नहीं हो जाते। यह तीन जब इकट्ठें हों तब ऐश्वर्य उत्पन्न होता है। अब यही विभाग आगे मन्त्रों में है :—

ओ३म् अग्नये स्वाहा। इदमग्नये इदन्न मम।

"यज्ञ में अग्नि के लिये भाग निकालो तब ही ठीक है (स्वाहा)। यह अग्नि के लिये है मेरा नहीं।"

ओ३म् सोमाय स्वाहा । इदं सोमायेदन्न मम ।

"सोम के लिये भाग निकालो तब ही ठीक है । यह सोम के लिये है मेरा नहीं ।"

ओ३म् प्रजापतये स्वाहा । इदं प्रजापतये इदन्न मम ।

"दोनों मिलकर आगे सन्तति को स्थिर रखें, इसके लिये भी भाग निकालो । यह प्रजापति के लिये है मेरा नहीं है ।"

ओ३म् इन्द्राय स्वाहा । इदमिन्द्रायेदन्न मम ।

"जब परम इन्द्र परमात्मा का स्वरूप मुझ में आ जाय तब ही ठीक है । यह इन्द्रत्व के लिये है मेरा नहीं ।"

परिवार में पुरुष अग्नि है । अग्नित्व का आदर्श सूर्य्य है । संकल्पाग्नि को चमकाते-चमकाते सूर्य्य की अवस्था तक पहुँचा देना है । जिस परिवार के पुरुष सूर्य्य बनते हैं वहां स्त्रियें भी अपनी अग्नि को सूर्य्य की अवस्था तक पहुँचा देती हैं । इस संकल्पाग्नि को नष्ट करने वाले काम का नाम भी संकल्प योनि है । अतः संकल्पाग्नि के प्रकरण में ही वीर्य्य की महिमा कही गई है । सूर्य्य को तथा अग्नि को शतपथ ब्राह्मण में वीर्य्य का देवता कहा गया है । अतः यह ज्ञानाग्नि को पराकाष्ठा तक पहुँचाने वाली, सूर्य्यावस्था तक ले जाने वाली आहुतियें ही देवयज्ञ की मुख्य आहुतियां कही गई हैं । पुरुष प्रातःकाल उठकर अपने कार्य में लगता है । उधर सूर्य उदय हुआ इधर यह संकल्प का सूर्य उदय हुआ और कार्य रूप में

देदीप्यमान हुआ। जिसने अपनी सारी शक्ति लगा दी उसका सूर्य पूर्ण रूप से उदय हुआ। उसका वीर्य कदापि नष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि रात्रि को निद्रा में भी उसका सूर्य नष्ट नहीं हुआ, लोकान्तर में चला गया है। जाग्रत से सुपुप्त वा स्वप्न में चला गया है। प्रबुद्ध चेतना (Concious self) से अप्रबुद्ध चेतना (Subconcious self) में चला गया है। किन्तु जो वृत्र अर्थात् भोग के अधीन हो जाते हैं उनका सूर्य्य मन्द हो जाता है। इसी वीर्य द्वारा संकल्प और संकल्प द्वारा वीर्य को दीप्त करने वाली आहुतियों को अग्नि होत्र की मुख्य आहुतियां कहा गया है। यहाँ शतपथ के कुछ वाक्य उद्घृत करना आवश्यक है।

सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्। शत० २।३।१।१॥

"अर्थात्—सूर्य अग्निहोत्र है।"

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति तदुभयतो ज्योति रेतोदेवतया परिगृह्णाति। शत० २।३।१।३२॥

अर्थात्—"'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' यह जो कहता है ज्योति को दोनों ओर से वीर्य की देवता से घेरता है।"

सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहेति तदुभयतो ज्योती-रेतोदेवतया परिगृह्णाति। श० २।३।१।३३॥

अर्थात्—'सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः स्वाहा' यह जो कहता है ज्योति को दोनों ओर से वीर्य की देवता से घेरता है।"

ओ३म् सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ।

इस मन्त्र में ज्योति शब्द से वीर्य्य की ज्ञान-वर्धक शक्ति का वर्णन किया। अब शरीर को किस प्रकार दीप्ति युक्त करता है इसका वर्णन करते हैं :—

ओ३म् सूर्यो वर्चो ज्योति वर्चः स्वाहा ।

"वीर्य शरीर में वर्चः अर्थात् दीप्ति के रूप के प्रकट होता है (वर्चदीप्तौ)।" जिसका वीर्य स्थिर होता है उसका मन ज्योतिष्मान् और शरीर दीप्तिमान् होता है। जहाँ मन में संकल्प स्थिर होता है वहाँ शरीर कान्तिमान् होता है।

फिर मानसिक शक्ति का वीर्य रक्षा के साथ गहरा सम्बन्ध दिखाने के लिये उसे फिर दोहराते हैं :—

ओ३म् ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा ।

"निर्मल ज्ञान शक्ति ही वीर्य है और वीर्य ही निर्मल ज्ञान शक्ति है।"

अगले मन्त्र में इन्द्र और उषा के जोड़े का वर्णन है। ब्रह्मचारी के पक्ष में वह मन्त्र गुरु और गुरुपत्नी की ओर निर्देश करता है। गृहस्थ लोगों के सम्बन्ध में पति-पत्नी के जोड़े की ओर। और यदि किसी का गुरु नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो तो उस गुरु के हृदय में विद्यमान उग्र ज्ञान और कोमल शिष्य-वत्सलता के जोड़े की ओर निर्देश करता है। प्रातःकाल का समय हुआ है, गृहस्थ अपने कार्य की ओर चला है, शिष्य

अपनी पाठशाला को। पति-पत्नी का जोड़ा कहता है कि सम्पूर्ण जगत् के प्रेरणा करने वाले देव सविता के साथ मिला हुआ उसकी सेवा में तत्पर यह सूर्य-प्रकाश और उषा का जोड़ा प्रातः-काल हमारे घर में दर्शन दे और हमें उपदेश कर जावे। पत्नी का धर्म है प्रातःकाल प्रफुल्ल हृदय से हँसती हुई पति को कार्य पर भेजे। उसका चेहरा उषा की भांति खिल रहा हो और उसके कार्य में बाधक न हो। उसे घर-घुसना न बनने दे। प्रातःकाल वह थोड़े समय के लिये सूर्य के प्रकाश और उषा की भांति इकट्ठे होते हैं। जहाँ पति का संकल्प जाग कर सूर्य बना कि उषा विदा हुई। सो वह उसे उत्साह भरने के लिये हंसती हुई एक बार दर्शन देती है। फिर सूर्य ही सूर्य दीखता है।

ब्रह्मचारी अपने गुरु के विषय में प्रार्थना करता है कि मेरे गुरु और मेरी गुरुपत्नी का जोड़ा सूर्य-प्रकाश और उषा के जोड़े की भांति मुझ पर सदा आशीर्वादमयी छाया बनाये रक्खे। यदि गुरु नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो तो शिष्य की प्रार्थना का भाव इस प्रकार होगा कि देदीप्यमान ज्ञान और सुकुमार शिष्य-वत्सलता का जोड़ा उषा और सूर्य-प्रकाश के जोड़े की भांति सदा मेरे गुरु के हृदय में विराजे और उसके द्वारा मेरी कुटी में भी पधारे।

ओ३म् सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा।

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ॥

यह पूर्ण पुरुषों का स्वरूप है। इस स्वरूप का पूर्ण विकाश उस परम पुरुष में ही हुआ है जिसके लिये कहा है--'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।" अब यजमान कहता है कि मेरी अग्नि मर्यादा को पार करके लोक को भस्म न कर दे, इसलिये—

ओ३म् अदितेऽनुमन्यस्व
"अदिते ! तू भी अनुमति दे",
ओ३म् अनुमतेऽनुमन्यस्व
"अनुमते ! तू भी अनुमति दे",
ओ३म् स्वरस्वत्यनुमन्यस्व
"हे सरस्वति ! तू भी अनुमति दे",

अदिति का विस्तार अनन्त है। परमात्मा अग्नि है। प्रकृति अदिति है। वह रूप बदल ले परन्तु खण्डित नहीं होती। इसलिये जो खण्डित हो वह दिति (दो अव खण्डने), जो खण्डित न हो वह अदिति है। द्यौ अग्नि है, पृथिवी अदिति है। पुरुष अग्नि है पत्नी अदिति है। इसीलिये स्त्रियें धार्मिक विश्वासों में स्वभाव से दृढ़ होती हैं। राष्ट्र में कार्यकर्ता (Executive) अग्नि है, (Judiciary) न्यायाधीश

अदिति हैं, क्योंकि वह अटल हैं। क्योंकि अग्निहोत्र में हमने पति-पत्नी के सम्बन्ध के अर्थ मुख्य रूप से दिखाये हैं अतः इन तीनों मन्त्रों का भाव इस प्रकार हुआ कि पति को चाहिए कि (१) उपोदान द्रव्य अर्थात् उस काम के लिये जरूरी मसाला है या नहीं यह देख कर काम करे, अनुमति लिये बिना कार्य न करे, फिर (२) अनुमति अर्थात् कार्यकर्त्ताओं की रजामन्दी के बिना कार्य न करे फिर (३) सरस्वती अर्थात् शास्त्र-वाणी की सलाह बिना कार्य न करे, पुरुष की अग्नि पर यह तीन नियन्त्रण हैं। फिर सबसे अन्त में हरएक कार्य के करने से पहिले अपने आपको प्रभु के अर्पण करे और जब भक्त बिलकुल निःस्वार्थ होकर उसके सामने झुकते हैं तो उन्हें अनेक बातें सूझती हैं। इसी को दैवी प्रेरणा कहते हैं। अन्धे जोश में काम करने वाले आग्नेय पुरुषों को नहीं सूझती। उस अवस्था के अभ्यास के लिये कहाः—

देव सवितः प्रसुवः यज्ञम् प्रसुव यज्ञपतिम्। भगाय दिव्यो गन्धर्व्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु। यजु० ११।७।

हे प्रभो! जिस प्रकार आपका भेजा यह दिव्य गन्धर्व (सूर्य) मेरे घर में अपनी मीठी रागिणी गाकर हमारा घर पवित्र कर जाता है, इसी प्रकार हे गन्धर्वों के गन्धर्व हमारे अन्तःकरणों में आकर एक बार ऐसा गा कि हमारी वाणी स्वादु हो जाय और

तुझे भी मीठी लगे। आ और हमारे यज्ञ पर, हमारे यज्ञ पति पर, अपनी यह मीठी मेहर कर जा। उसका कल्याण कर।

भारतीय संगीत शास्त्र के जानने वाले जानते हैं कि भारतीय संगीत की रागणियां सूर्य के प्रकाश पर अवलम्बित हैं। ज्यों-ज्यों सूर्य का प्रकाश बढ़ता जाता है रागणियों का स्वरूप बदलता जाता है! रात्रि में उस प्रकाश के अभाव का जो प्रभाव होता है उसका भी राग पर प्रभाव होता है। फिर ऋतुओं के अनुसार वसन्त, वर्षादि के प्रभाव पर राग बदलते हैं। इसीलिये सूर्य को दिव्य गन्धर्व कहा है। उसी के स्वर में स्वर मिलाकर पृथिवी लोक के गन्धर्व गाते हैं। किन्तु वह भूल जाते हैं कि यह सूर्य भी तो सविता के स्वर में स्वर मिलाकर गा रहा है। उसी को क्यों न कहें कि 'प्रसुव यज्ञम्'—हमारे वृन्दगीत को स्वर में चला (Orchestra को Lead कर)!

शब्दार्थ–(सवितः) सर्व प्रेरक (देव) देव (भगाय) परमैश्वर्य के लिये (यज्ञं) हमारे यज्ञों को, संघटित समारोहों को (प्रसुव) सुमार्ग में प्रेरित कर (यज्ञपतिं) यज्ञकर्ता को (प्रसुव) सुमार्ग में प्रेरित कर (केतपूः) ज्ञान को पवित्र करने वाला (दिव्य) दिव्य (गन्धर्वः) गन्धर्व (नः) हमारे (केतं) ज्ञान को (पुनातु) पवित्र करे (वाचस्पतिः) वाणी का पति वहः (नः) हमारी (वाचं) वाणी को (स्वदतु) मीठी करे।

यह चारों मन्त्र यज्ञ के सोमाङ्ग को बताते हैं। अतः इनके द्वारा अग्नि कुण्ड के चारों ओर जल छिड़का जाता है।

इस प्रकार अग्नि को प्रदीप्त करके आगे यज्ञ के अङ्गों का निरूपण करते हैं। यजमान को इन्द्र बनाना है। इन्द्र बनने से पहिले उसे तीन कोटियों में से जाना है। यह तीन कोटि हैं—अग्नि, सोम और प्रजापति। इन में से भी प्रथम दो मुख्य हैं। केवल अग्नि से यज्ञ कभी पूर्ण नहीं होता है। यज्ञ के दो अंग आवश्यक हैं—अग्नि और सोम। इसीलिये शतपथ में कहा है:-

"अग्नीषोमयोर्हि तावती विभूतिः प्रजातिः ॥"

शत० १६।२।२।३।

यह जितनी विभूति है वह अग्निसोम की है। परिवार ही ले लीजिये। यहाँ पति अग्नि और पत्नी सोम है। जब तक यह दोनों न मिलें यजमान प्रजापति नहीं बन सकता। और जब तक अग्नि, सोम और प्रजा तीनों न मिलें तब तक यजमान इन्द्र नहीं बन सकता। अतएव सब संगठनों का एक नियम बताते हैं कि संगठन तब पूरा होता है जब उसमें गत्युत्पादक, गतिनिरोधक, और शक्ति आगे भी चलती रहे इसके लिये आवश्यक उसका कोष, यह तीन भाग नहीं हो जाते। यह तीन जब इकट्ठें हों तब ऐश्वर्य उत्पन्न होता है। अब यही विभाग आगे मन्त्रों में है :—

ओ३म् अग्नये स्वाहा। इदमग्नये इदन्न मम।

"यज्ञ में अग्नि के लिये भाग निकालो तब ही ठीक है (स्वाहा)। यह अग्नि के लिये है मेरा नहीं।"

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार हुआ:-

(देवेन) देव (सवित्रा) सविता के साथ (सजूः) सेवा युक्त अर्थात देव सविता की आज्ञा में तत्पर तथा (इन्द्रवत्या उषसा) सूर्य प्रकाशवती उषा के साथ (सजूः) प्रीतियुक्त अर्थात् प्रकाशवती उषा के प्रति प्रीतिमान् (सूर्यः) सूर्य (वेतु) मेरे घर में प्राप्त हो।

सविता के लिये शतपथ १।१।२।१७ में लिखा है:—

सविता वै देवानाम् प्रसविता।

देव सवितः प्र सुव यज्ञम् ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ॥

इत्यादि मन्त्रों से भी सविता परमात्मा का वह रूप है जो राज्य में नियम निर्माता (Lagislator) के रूप में प्रकट होता है (इसकी विशेष व्याख्या शतपथ-भाष्य पृ० २६ तथा पृ० १८७ में देख लें)। इससे यह ध्वनि निकलती है कि राजा को इस बात का ध्यान सदा रखना चाहिये कि उसके राज्य में कोई मनुष्य निष्कारण (अर्थात् रोगी आदि विवशता के कारणों को छोड़कर) घर में न पड़ा रहे। जो लोग केवल सूद पर जीवन बिताते हैं उन्हें इसीलिये शतपथ में असुर कहा है। (शत० १३।४।३।११)

जो प्रजाजन सविता देव के साथ सजू होगा अर्थात् परमात्मा और तदनुवर्ती उत्तम राज्य नियम बनाने

वाले उत्तम राजा के साथ सजूः होगा वह घर में घुस कर नहीं बैठ सकता वह अवश्य प्रातःकाल अपने काम पर चला जायगा। और तभी उसका गृहस्थाश्रम वास्तव में सुखी रह सकता है। जो स्त्री-पुरुष सदा एक दूसरे के पास बैठने की इच्छा करते हैं वे थोड़े ही समय में एक दूसरे से तंग आ जाते हैं। परन्तु जो पुरुष अपने पवित्र संकल्प की तत्परता से सूर्यवत् देदीप्यमान रहता है उसकी पत्नी का चेहरा भी उषा के समान खिला रहता है और प्रातःकाल उसे अपने निश्चित कार्य पर भेजती हुई वह "लालो लाल" हो जाती है। क्योंकि उसे अभिमान होता है कि मेरा पति निठल्ला नहीं है, एक महत्वपूर्ण व्रत पर लगा हुआ है।

अब सायंकाल के मन्त्रों की व्याख्या करते हैं :—

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि जो संकल्पाग्नि पुरुष ने हृदय में धारण की है वह दिन के समय चमक कर सूर्य का रूप धारण कर लेती है। परन्तु रात को भी वह बुझती नहीं। उस समय भी वह सच्चे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के हृदय में जागती रहती है। उन्हें स्वप्न भी आते हैं तो अपने संकल्प के। इसीलिये सायंकाल के मन्त्रों में उन संकल्पों को अग्नि कहा है। इसी अग्नि के विषय में सोमयाग-दीक्षा में सोते समय दीक्षित कहता है :—

अग्ने त्वं सुजागृहि वयं सुमन्दिषीमहि रक्षा णो अप्रयुच्छन् ॥ यजु० ४ । १४ ॥

"हे संकल्पाग्ने हम मस्त होकर सोएं, परन्तु उस समय भी तू जाग और अप्रमत्त होकर हमारी रखवाली कर।"

अब इस अग्नि की महिमा इस प्रकार है :—

ओ३म् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ।

"जहां संकल्पाग्नि जल रहा है वहीं ज्ञान की ज्योति है, जहां ज्ञान की ज्योति है वहीं संकल्पाग्नि है. क्या ठीक कहा (स्वाहा)।"

ओ३म् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ।

"संकल्पाग्नि ही शरीर को दीप्तिमान् बनाती है और ज्ञान ज्योति ही शरीर को दीप्तिमान् बनाती है।"

अब तीसरी आहुति—

ओ३म् अग्नि ज्योतिर्ज्योतिरग्नि स्वाहा ।

इस मन्त्र से दी जाति है। किन्तु यह आहुति मौन होकर दी जाती है। इसका कारण यह कि सायंकाल हो गया, अब सारे जगत् के कार्यों का अवसान हो रहा है। सब धीरे-धीरे मौन हो जायेंगे। इस समय अपने संकल्प में ऐसा ध्यान गड़ाओ कि प्रगाढ़ निद्रा में भी वही संस्कार तुम्हारे साथ रहे। और यदि किसी रात्रि में गर्भाधान करो तब भी वह अग्नि तुम्हारे साथ हो जिससे उसी के प्रबल संस्कार लेकर बालक

जन्मे। अग्नि का विस्तार अक्षय रहे जिससे वह बच्चा सच्चे अर्थों में सन्तान कहलाए (सम्+तन्+घञ्, तनुविस्तारे)। इसीलिये मनुष्य के जीवन संकल्प के आदरार्थ, उसमें अत्यन्त अभिनिवेशार्थ, यह आहुति मौन की गई है। और इसीलिये इसका नाम प्राजापत्याहुति है, क्योंकि इसका सम्बन्ध प्रजा अर्थात् सन्तान के प्रति जगदीश्वर से विशेष है। प्रजापति बृहस्पति दोनों ही परमात्मा के नाम हैं परन्तु इनका सूक्ष्म भेद से इस प्रकार पता लगता है कि—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

यह मन्त्र उपनयन संस्कार का है। किन्तु केवल एक शब्द के भेद से यह विवाह संस्कार में भी आया है। वहाँ केवल इतना भेद है कि बृहस्पति के स्थान में प्रजापति शब्द दोनों नाम परमात्मा के हैं किन्तु तो भी गृहसूत्रकार की सम्मति में ब्रह्मचर्य के प्रकरण में, गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में बृहस्पति नाम अधिक उपयुक्त है। और विवाह के प्रकरण में प्रजापति नाम अधिक उपयुक्त है। अतः जहाँ-जहाँ प्राजापत्य आहुति आए उसे मुख्य सङ्कल्प सम्बन्धी आहुति समझना चाहिये। अगली आहुति का मन्त्र यों है :—

ओ३म् सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा।

अब यदि रात्रि को भी दिन बनाने का सामर्थ्य यदि किसी में है तो विद्युत् में। घनघोर बादलों में भी जब वह चमक उठती है तो जगत् चमक उठता है। और विद्वान् जब उसे विज्ञान से वश में कर लेते हैं तो रात को दिन बना लेते हैं। इसलिये इस मन्त्र में पति-पत्नी इस प्रकार कहते है कि—

(देवेन) देव (सवित्रा) सविता के साथ (सजूः) सेवायुक्त अर्थात् देव सविता की आज्ञा में तत्पर तथा (इन्द्रवत्या रात्र्या) विद्युन्मयी रात्रि के साथ (सजूः) प्रीतियुक्त (अग्निः) अग्नि (वेतु) मेरे घर में प्राप्त हो।

जिस प्रकार मेघवती रात्रि में बिजली रात्रि में मिली रहती है इसी प्रकार रात्रि में पति-पत्नी के हृदय मिले रहें और जब चमके तो प्रकाश ही हो अर्थात् संकल्पाग्नि ही चमके।

तात्पर्य यह है कि पत्नी को चाहिये कि रात्रि को सोने से पूर्व बातचीत इस प्रकार की करें जिससे उनका जीवन संकल्प दृढ़ हो।

शिष्य, गुरु और गुरुपत्नी के लिये प्रार्थना करें कि उनकी कृपा से हमारे चित्त रात्रि में भी शिवसंकल्प में लीन हों। और यदि गुरु नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो तो ज्ञानाग्नि और विश्रान्ति दायिनी शिष्य-वत्सलता का जोड़ा निद्रा में पड़े हमारी रक्षा करे, इस प्रकार अर्थ करना। अब यज्ञ के उपसंहार के लिये जिस भूर्भुवः स्वः से इसका आरम्भ हुआ था उसी की ओर आते हैं :—

ओ३म् भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ।

वह परमात्मा भूः है अर्थात् ब्रह्माण्ड में होने वाली सम्पूर्ण गति का आदि कारण है। जिस प्रकार अग्नि जल, तैल आदि को वायु रूप बनाकर उनके द्वारा गति करवाती है उसी प्रकार परमात्मा इस ब्रह्माण्ड की गतियों का भूः है। जिस प्रकार शरीर प्राण के आधार पर खड़ा है इसी प्रकार ब्रह्माण्ड उसके सहारे जीता है। अतः वह भूः है। शब्दार्थ है :—

(भूः) भूः इस नामवाले (अग्नये) सब ब्रह्माण्ड यात्रा के अग्रणी (प्राणाय) प्राणों के प्राण उस परमात्मा के निमित्त ही हम सब चेष्टा करते हैं।

अग्नि उस अवस्था का नाम है जो चेष्टा का मूल कारण है जिसे मानव भाषा में ज्ञान कहते हैं। परमात्मा के ज्ञान के अनुकूल ही सब चेष्टा होती है। परन्तु वह चेष्टा जहां परमात्मा के ज्ञान के अनुकूल हो रही है उसे ब्रह्म के सम्बन्ध में भुवः कहते हैं। स्थूल जगत् में भी चेष्टा वायु द्वारा होती है यह हम पहले कह आए हैं। इसीलिये कहा :—

ओ३म् भुववायवेऽपानाय स्वाहा ।

जिस प्रकार वायु को अन्दर लेना प्राण और बाहिर फेंकना अप+अन्=अपान है इसी प्रकार ज्ञान जब चेष्टा रूपमें आता है तो उसका अपानन अर्थात् बाहिर प्रक्षेप होता है। इसलिए कहा है कि :—

'हम भुवः अर्थात् सर्वत्र गति करते हुए दुःखों के अपनयन करने वाले भगवान् के निमित्त ही सब व्यवहार करते हैं।'

उत्तम चेष्टा का परिणाम सुख है। वह भगवान् ही सम्पूर्ण सुखों का निधान है। उसका वह एक-रस आनन्दमय रूप सच्ची चेष्टा वालोंको मिलता है। उस समय चेष्टा बन्द हो जाती है और उस अपूर्व रस का आस्वादन होता है। जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से हम तक पहुँचता है स्वयं चलकर नहीं आता। इसी प्रकार वह भगवान् का ज्योति श्रेय रूप है। अत एव कहा :—

ओ३म् स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा।

अर्थात् "जिस प्रकार इस स्थूल जगत् में आदित्य है इसी प्रकार वह स्वः अर्थात् सुख स्वरूप भगवान् ब्रह्माण्ड में व्यान= व्यापक है उसके निमित्त ही सम्पूर्ण यज्ञ है।"

भगवान् के ये तीन गुण जिस प्रकार उसमें पूर्ण रूप से विकसित हुए फिर भी एक साथ विद्यमान हैं इसी प्रकार हमारे अन्दर भी ये गुण हों तब ही इन तीनों गुणों के संगति-करण से हमारा यज्ञ पूरा होगा। इसलिये कहा :—

ओ३म् भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापान-व्यानेभ्यः स्वाहा

भूर्भुवः स्वः इन तीनों के वाच्य अग्नि, वायु आदित्य के

समान जो भगवान् के प्राणापान व्यान रूप तीन गुण हैं उनको अपने अन्दर धारण करने के लिये ही हम यज्ञ करते हैं।"

अब सम्पूर्ण यज्ञ-क्रिया का उपसंहार एक वाक्य में कहते हैं :--

"आपः और ज्योतिः" अर्थात् सोम और अग्नि यह दोनों जहां ठीक भाव से मिलें वहीं सच्चा रस है। वह रस ही सच्चा अमृत है। वह अमृत परब्रह्म है। उसके स्वरूप को ही "भूर्भुवः स्वः" इन तीन महाव्याहृतियों में कहा है। और यह महाव्याहृति ही ओ३म् है। इस ओ३म् के अ उ म् तीन महाव्याहृतियों के सूचक हैं। जिस प्रकार ओ३म् में सब घुल मिल गए हैं वैसे ही तुम भी अपने अन्दर भगवान् के गुणों का पूर्ण संगतिकरण करो। यही यज्ञ क्रिया का सार है। इसी लिये कहा—

ओ३म् आपो ज्योती रसोऽमृतम् ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् स्वाहा।

अब तक यहां अग्नि के आधान, उद्दीपन आदि का वर्णन होता रहा। अब अन्त में तीन ईश्वर प्रार्थना के मन्त्र देकर इस यज्ञ को समाप्त करते हैं। हम लाख संगठन करें किन्तु जब तक उनमें ईश्वर प्रणिधान नहीं मिलता तब तक उनमें पूर्णता नहीं आती।

यों तो "अग्नये जातवेदसे इदन्न मम" कहकर सारे यज्ञ को ही परमाग्नि परब्रह्म के अर्पण किया जाता है। किन्तु यह

तीन मन्त्र तो स्पष्ट ही प्रार्थना के मन्त्र हैं और इतने स्पष्ट हैं कि उनका सीधा अर्थ दे देना ही पर्याप्त है।

ओ३म् यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनङ्कुरु स्वाहा।

"हे परमाग्ने परमेश्वर जिस पवित्र बुद्धि के लिये देवगण और पितर लोग तेरे द्वारे आते हैं वह मेधा देकर मुझे भी मेधावी बना।

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।

"हे सकल जगत् के प्रेरक देव सब बुराइयों को हम से दूर हटाइये और समस्त उत्तम गुणों को हम में स्थापित कीजिये।"

ओ३म् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥

"हे अग्ने आप सब मार्गों के जानने हारे हैं। हम धन प्राप्ति के लिये लोभवश सत्यमार्ग से भटक जाते हैं अतः आप हमें सदा सुपथ से ले जाइये। इस अर्थ प्राप्ति के मार्ग में कुटिल-गामी पाप जब हमें आ दबाए तो आप उसे हम से परे हटा दीजिये। हम यही बार-बार नमः कह कर आप से माँगते हैं।"

अन्त में वाक्य है :—

"ओ३म् सर्व्वं 'वै पूर्णं' स्वाहा।"

इसका अर्थ यह है कि कोई कार्य ठीक हुआ तब जानो जब वह पूर्णहो जावे, जब तक कार्य पूर्णता तक न पहुँच जावे क्षणिक सफलता से सन्तोष न होना चाहिए।

वैश्वदेव यज्ञ

प्रातः काल देव यज्ञ के पश्चात् वैश्वदेव यज्ञ है। वैश्वदेव का अर्थ है वह यज्ञ जिसमें सम्पूर्ण विश्व का देव अंश सामने आ जाय। सूर्य पृथिवी आदि जड़ पदार्थों तथा ब्राह्मण, राजा आदि चेतनों में जो देव अंश है अर्थात् देने की सामर्थ्य है। वह इतनी स्पष्ट है कि सबको स्वयं समझ में आ जाती है किन्तु कुछ न कुछ देव अंश हर पदार्थ में छिपा हुआ है। जब कान में खाज उठती है तो तिनके का देव अंश प्रकट होता है क्योंकि उस समय तिनका जो सुख हमें "देता है" वह सुई, तलवार, चमचा, पंखा कोई भी पदार्थ नहीं दे सकता।

भोजनशाला में प्रवेश का समय मनुष्य के अभिमान में आने का समय है इसलिये ठीक भोजन से पूर्व यह यज्ञ रक्खा गया है। इस समय मनुष्य कहता है कि मैं जो अन्न खा रहा हूँ इसमें संसार भर के देवों ने भाग लिया है इसलिये मैं उनके निमित्त नमः अर्थात् अन्न निकाल कर फिर भोजन खाता हूँ

वैश्वदेव की आहुतियें निम्न लिखित हैं :—

ओ३म् अग्नये स्वाहा।

अभिमान दोष से रहित होकर मैं संकल्पाग्नि को ठीक रक्षा कर सकूं इसलिये प्रथमाहुति है वह स्वाहा बहुत अच्छी है।

ओं सोमाय स्वाहा ।

मुझमें सोम अर्थात् मधुर अंश सदा बना रहे इस निमित्त यह दूसरी आहुति है।

ओं अग्नीषोमाभ्याम् स्वाहा ।

इन दोनों अंशों का उचित समन्वय मुझमें रहे किसी की अति मात्रा नहीं इस बात के स्मरणार्थ तीसरी आहुति है।

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ।

ससार भर में जिधर देखता हूँ उधर सब देव ही देव हैं अर्थात् यह सारा जड़ तथा चेतन जगत् मुझे कुछ न कुछ देता है इस बात के स्मरणार्थ यह चौथी आहुति है।

ओं धन्वन्तरये स्वाहा ।

धन्व मरुभूमि को कहते हैं सो जिस परमात्मा तथा जिन शिल्प शास्त्रियों की कृपा के बिना मैं मरुभूमि में प्यासा मर जाऊं उन धन्व अर्थात् मरुभूमि तक से तारने वाले पार उतारने वालों का मैं विशेष ऋणी हूँ। इस बात के स्मरणार्थ यह पांचवीं आहुति है।

ओं 'कु' ह्वै स्वाहा ।

कु अर्थात् बुरी से बुरी धरती को भी हूँ अर्थात् पुकारने वाली अपनी आज्ञा में चला कर उससे भी अन्न उत्पन्न करने वाली जो कृषि शास्त्र के जानने वालों की विद्या है उसका भी मैं ऋणी हूँ इस बात के स्मरणार्थ यह छठी आहुति है।

ओं अनुमत्यै स्वाहा।

उन नाना शिल्प शास्त्रियों के साथ लगे हुए सहस्त्रों श्रम जीवियों ने यह अन्न और जल मुझे दिया है। वे प्रसन्नता से इस कार्य में लगे थे यदि उनकी अनुमति के बिना बल पूर्वक उनसे काम लिया जाता तो यह अन्न मुझे खा जाता सो उन श्रम जीवियों के लिये मैं उनका ऋणी हूँ इस बात के स्मरणार्थ यह ७ वीं आहुति है।

ओं प्रजापतये स्वाहा

उस सम्पूर्ण प्रजा के पालन हारे प्रभु ने अपनी कृपा से हमें प्रेम शक्तिदी है जिससे यह सब मेरे सहायक हुए इसलिये उसके स्मरणार्थ यह आठवीं आहुति है।

द्यावा पृथिवीभ्यां स्वाहा

और भी इस धरती और आकाश के बीच मेरे नाना सहायक होंगे जिनका मैं पृथक् नाम नहीं ले सकता इसलिये सब नभचर और थलचरों का मैं ऋणी हूँ ऐसा कहने के लिये यह नवम आहुति है।

ओं स्विष्ट कृते स्वाहा

हम जानते बूझते भी आहार व्यवहार में मर्य्यादा से न्यून वा अधिक करते रहते हैं इसलिये अन्त में उस कभी न्यून वा अधिक न करने वाले प्रभु का स्मरण करते हैं वही स्विष्ट कृत है उसके स्मरणार्थ यह दशम् आहुति है।

यह दश आहुति भात की अथवा क्षार लवण रहित अन्नकी चूल्हे की अग्नि में अथवा अन्य अंगीठी आदि की अग्नि में करनी। क्षार लवण का धुआं आंखों को हितकर नहीं। किन्तु चिकने तथा मीठे पदार्थों का हितकर है इसलिये लवणान्न आदि की आहुति नहीं करनी।

अब केवल आहुति मात्रसे सन्तुष्ट न होकर। उनके निमित्त अन्न निकालना। इस निमित्त पत्तल व थाली में अन्न भाग रख कर फिरे उसे मंत्र पढ़के जहाँ जहाँ बनाया जाय वहां रखना।

सानुगायेन्द्राय नमः

राजा और उसके चपड़ासी तक का मैं ऋणी हूँ। इसलिये उसके निमित्त अन्न भाग निकालता हूँ।

इससे पूर्व—

सानुगाय यमाय नमः

न्यायाधीश और उसके धर्मात्मा अनुचर तक का मैं ऋणी हूँ। इसलिये उसके लिये अन्न भाग निकालता हूँ।

इससे दक्षिण—

ओं सानुगाय वरुणाय नमः।

पोलीस के अध्यक्ष तथा उसके अनुचरों का भी मैं ऋणी हूँ इसलिये उनके लिये अन्न भाग निकालता हूँ।

इससे पश्चिम

ओं सानुगाय सोमाय नमः।

औषध विभाग के अध्यक्ष तथा उसके अनुचरों का भी मैं ऋणी हूँ इसलिये उसके लिये अन्न भाग निकालता हूँ।

इससे उत्तर

ओं मरुद्भ्यो नमः।

राष्ट्र के द्वार रक्षक जो सैनिक लोग हैं उनके लिये भी अन्न भाग निकालता हूं।

इससे द्वार

ओं अद्भ्यो नमः।

जल विभाग के जो अध्यक्ष नहर आदि के बनाने वाले हैं उनका भी मैं ऋणी हूं इसलिये उनके लिये भी अन्न भाग निकालता हूं।

इससे जल (घड़े आदि पर अन्न भाग रक्खे)

ओं वनस्पतिभ्यो नमः।

वन के रखवाले अर्थात् जंगल के अधिकारी हैं उनके लिये भी मैं अन्न भाग निकालता हूं।

इससे ऊखल मूसल या अन्य किसी लकड़ी की वस्तु पर अन्न भाग रक्खे।

ओं श्रियै नमः।

राज्य के आश्रय भूत जो अन्य शिल्पकार लोग हैं जो राज्य की सच्ची श्री हैं उनके लिये मैं अन्न भाग निकालता हूं।

इससे ईशान

ओं भद्रकाल्यै नमः।

जो दण्डनीय लोगों को हमारे और उनके कल्याण के लिये माता के समान हांकती है उस जेल की शासन करने वाली मण्डली के निमित्त मैं अन्न भाग निकालता हूं।

इससे नैऋत्य

ओं ब्रह्मपतये नमः ओं वास्तुपतये नमः।

जिन ब्राह्मणों के सहारे मेरा कुल और जिन शिल्पियों के सहारे यह स्थूल घर खड़ा है उनके निमित्त मैं अन्न भाग निकालता हूं।

इससे मध्य

ओ३म् विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ओ३म् दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ओ३म् नक्तञ् चारिभ्यो भूतेभ्योनमः।

विश्व देवों को अन्न भाग। दिवाचरों को अन्नभाग। नक्तञ् चारियों को अन्नभाग। समाप्तिमें जैसे जमीन आसमान के सब लोगों का ऋण स्वीकार किया था अब काल की दृष्टि से सब को गिन लिया कि दिन रात सब के पहरेदार जो हमें दिन-रात सतर्क रहने का उपदेश करते हैं उनके लिए अन्नभाग।

इनसे छत पर

ओ३म् सर्वात्म भूतये नमः

इससे पृष्ट

जो ऊपर कहने में बच गये उन सब के लिए भी अन्नभाग इसी लिये यह पृष्ठ में रक्खा जाता है।

ओ३म् पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः

स्वधा अर्थात् पेन्शन के अधिकारी पितर लोगों के लिये यह स्वधा अन्न निकालता हूं। यह फिर दक्षिण, क्योंकि पितरों को अपने सामने अपने दहिने ओर (आदरार्थ) बैठाकर खिलाना धर्म्म है। धन्य है वे लोग जो अपने हाथों से इस प्रकार माता पिता आदि की सेवा करते हैं।

यह अन्नभाग पूर्व दक्षिण आदि स्थानों में रखकर फिर उठाकर थाली में रख लेना और चाहे तो अतिथि यज्ञ के अन्न में मिला लेना चाहे अग्नि में डाल देना स्वयं नहीं खाना।

इसके पश्चात्

कौवा, कुत्ता कुत्तों का सेवक, समाज बहिष्कृत लोग कोढ़ी आदि कीड़े तथा कौवे आदि के निमित्त ६ भाग निकालकर इनको दे देना।

क्योंकि ये लोग भी देवता हैं, वे हमको दुष्ट मार्ग से बचने के लिये भय देते हैं, वे कहते हैं कि देखो हम भी कभी अच्छे लोग थे पर अपने अपराधों के कारण दण्ड देकर क्या बना दिये गये हैं। लोगो जो अपराध हमने किये हैं सो तुममत करना।

इस प्रकार सबका भाग निकालकर मनुष्य अतिथि यज्ञ करे।

अतिथि यज्ञ

इस यज्ञ की महिमा अथर्व वेद के नवम काण्ड में छठे सूक्त में बड़े विस्तार से दी गई है।

इसमें विशेष ध्यान देने योग्य यह पंक्तियें हैं।

तस्मान्न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयात्।

न मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य।

तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात्।

जिसका अन्न खाये द्वेष करता हुआ न खाए, जो द्वेषसे अन्न खिलाता हो उसका अन्न न खाये, जिसके विषय में मन में संदेह हो कि भला आदमी है वा नहीं, उसका अन्न न खाये, जो तुम्हारे विषय में उलझन में पड़ा हो कि खिलाऊँ या न खिलाऊँ उसका न खाये।

अतिथि को खिलाये बिना अन्न न खाये, अतिथि यज्ञ की महिमा अथर्व वेद में पढ़ कर पता लगता है कि अकेले अन्न खाना आर्य्य को कितना बुरा लगता है और किसी को खिला कर खाने में उसे कितना आनन्द अनुभव होता है जिसने बालकपन से यह उत्तम शिक्षा पाई हो, वह मनुष्य कभी स्वार्थी नहीं हो सकता।

पितृ यज्ञ

अब पितृ यज्ञ की व्याख्या करते हैं, जो देव लोग हमारा उपकार करते करते क्षीण हो गये हैं वे पितर कहलाते हैं इसी लिये उनको जो अन्न दिया जाता है स्व+धा=स्वधा कहलाता है। जिन्होंने वर्षों तक हम पर उपकार किया है वे अब हमें कुछ दें या न दें फिर भी वे सेवा के पात्र हैं क्योंकि वे स्व अर्थात् हमारे अपने हो चुके हैं अब जो हम उनकी सेवा करते हैं वह उनके कृत उपकारों का स्मरण करते हैं न कि क्रियमाण और करिष्यमाण उपकारों के विचारों से इसी लिये यह अन्न स्वधा अर्थात् अपनों को धारण करने वाला अन्न कहलाता है।

इस यज्ञ के तीन काल हैं।

(१) अपराह्णे पिण्ड पितृ यज्ञः। शत० २-४-२-७-८

कुर्य्यादहरहः श्राद्धं पितृभ्यः प्रीतिमावहन्।
पयोमूलफलैर्वाऽपि मुन्यन्नैश्चापि सर्व्वशः।

(२) अमावस्या में पितृ यज्ञ।

(३) वार्षिक पितृ यज्ञ।

इसका अभिप्राय यह है कि नित्य पितरों को भोजन दें।

प्रतिमास जब वेतन मिले तो उसमें से पितरों के पालनार्थ

भाग वानप्रस्थाश्रम में पहुँचा दे अथवा घर बुला कर सत्कार पूर्वक दें।

जो ऐसा भी न कर सको तो वर्ष में एक बार बुला कर सत्कार करे और वर्ष भर को निर्वाहार्थ अन्नादि सामग्री उन्हें देकर बिदा करें जिससे यदि वे वानप्रस्थमें भिक्षा करें तो अभिमान दूर करने के लिये करें, जीवन निर्वाह के लिये मजबूर होकर नहीं।

इसी अन्नदान का ही नाम पिण्डदान है और क्योंकि जो माता-पिता जीवन काल में ही सारा वैभव त्याग कर वानप्रस्थ में चले जाते हैं उनके लिये सन्तान के हृदय में एक विशेष श्रद्धा उत्पन्न होती है इसलिये उन्हें बुला कर जो सेवा की जाती है। उसका नाम श्राद्ध है।

इस यज्ञ के लिये अपराह्न काल इसलिये रक्खा कि उस समय स्त्रियां तथा घर के भृत्यादि सब भोजन से निवृत्त हो लेते हैं इसलिये वृद्धजनों से ज्ञान चर्चा सुनने का वही उचित काल है। पुरुष लोग तो अन्यत्र भी तथा अन्य समयों में भी ज्ञान चर्चा सुन लेते हैं किन्तु कुल वधुओं को यही ज्ञान चर्चा सुनने का समय है और विद्यावयोवृद्ध लोगों को ही उनके बीच बैठ कर उपदेश देना शोभा देता है, क्योंकि उन्होंने न केवल विद्या पढ़ी है किन्तु संसार का अनुभव भी पाया है।

रहा स्वधा का अन्न सो उससे तो विद्याहीन पितरों का भी सत्कार उचित है कोई समय था जब अपने देश में घरके नौकर

यहाँ तक कि भंगी भी गाँव में चाचा, ताऊ, नाना आदि शब्दों से पुकारे जाते थे और पितरों में गिने जाते थे। आज यह सुन्दर प्रेम भरी व्यवस्था लोप हो रही है। यदि पितृ यज्ञ के पढ़ने से इस व्यवस्था का पुनरुद्धार हो जायतो हम अपना यत्न सफल समझेंगे। इस प्रकार प्रातः सायं प्रभु स्मरण द्वारा उसके गुणों को सीखे, देव यज्ञ द्वारा समाज के प्रति कर्मण्य पालन करना सीखे, वैश्वदेव द्वारा निरभिमान हो, अतिथि यज्ञ द्वारा सहृदयता और पितृ यज्ञ द्वारा कृतज्ञता का पाठ सीख कर जो मनुष्य यज्ञमय होकर विचरते हैं वे अपने और दूसरे से जीवन को पुण्यमय बना कर कृतकृत्य होते हैं। परमात्मा कृपा करें जिससे यह धरती फिर एक बार यज्ञमय हो जाय।

पं० बुद्धदेव विद्यालंकार रचित पुस्तकें

कायाकल्प

आजकल समाजवाद, साम्यवाद या सोशलिज्म के नाम से जो लहर हमारे देश में चल रही है वह हमारी संस्कृति को जड़ से उखाड़ देना चाहती है। इस पुस्तक में युक्तियोंके आधार पर सिद्ध किया गया है कि वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था उन कठिन उलझनों को बहुत अच्छी प्रकार सुलझाती है जिन्हें सुमझाने का यत्न समाजवाद करता है। पुस्तक का सम्पूर्ण आर्य जगत् में स्वागत हुआ है।

मूल्य बढ़िया जिल्द १॥)
साधारण जिल्द १।)
बिना जिल्द १)

पञ्च यज्ञ-प्रकाश २)

स्वर्ग—इसमें यह दिखाया गया है कि वेद में स्वर्ग शब्दका क्या अर्थ है ।=)

मरुत् सूक्त—वेद में मरुत् शब्द का क्या अर्थ है ।)

सोम—वेद में सोम शब्द का क्या अर्थ है ।)

पाणिनीय प्रवेशिका—पाणिनि व्याकरण आरम्भ करने की इच्छा रखने वालों के लिये अपूर्व ग्रन्थ मूल्य १)

शतपथ ब्राह्मण भाष्य (आधा काण्ड) ३)

अथर्व भाष्य (प्रथम काण्ड) ३)

उसकी राह पर आपका भजन संग्रह =)

इन सब ही पुस्तकों की आर्य विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

मिलने का पता:—

प्रभात आश्रम कार्यालय नई मण्डी मुजफ्फर नगर।
प्रभात पुस्तक भण्डार ८ शान्ति निवास, न्यू देहली।